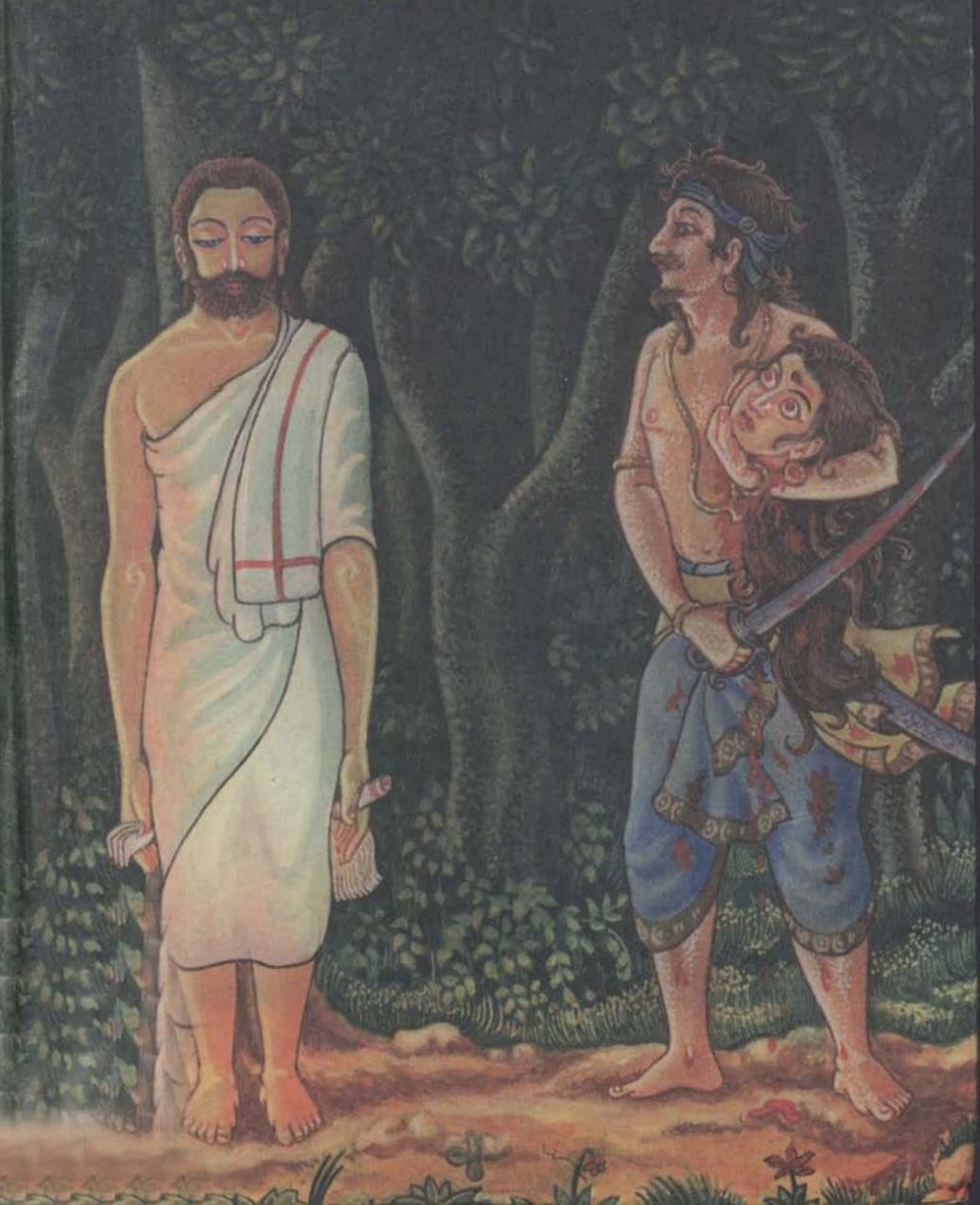


सचित्र

# डॉन कथासागर

1

आचार्य श्री कैलाससागरसूरीश्वरजी



नमामि वीरं गिरिसारधीरम्  
मन्चारित्र चूडामणि श्री रविसागरजी पुण्य शताब्दि ग्रंथमाला पुष्प - १

## सचित्र जैन कथासागर

भाग - १

❖ संग्राहक ❖

प्रशांतमूर्ति पूज्यपाद आचार्य प्रवर  
श्रीमत् कैलाससागरसूरीश्वरजी महाराजा

❖ शुभ-आशीर्वाद ❖

शासन प्रभावक पूज्य आचार्य  
श्रीमत् पद्मसागरसूरीश्वरजी महाराज

❖ प्रेरक/मार्गदर्शक ❖

ज्योतिर्विद गणिवर्य  
श्री अरुणोदयसागरजी म. सा.

❖ संपादिका ❖

साध्वीश्री शुभ्रांजनाश्रीजी म. सा.

❖ अनुवादक ❖

श्री नैनमलजी सुराणा

श्री अरुणोदय फाउन्डेशन, कोबा

सच्चारित्र चूडामणि श्री रवियागरजी पुण्य शताब्दि ग्रंथमाला पुष्प - १

- पुस्तक** : श्री सचित्र जैन कथायागर भाग - १
- संग्राहक** : पूज्यपाद आचार्यश्री कैलाससागरसूरीश्वरजी म. सा.
- संपादिका** : साध्वी श्री शुभ्रांजनाश्रीजी
- अनुवादक** : श्री नैनमलजी मुराणा  
सुराणा कुटीर, रूपाखान मार्ग, सिरांही - ३०७ ००१
- प्रकाशक** : श्री अरुणोदय फाउन्डेशन  
पोस्ट कांवा, जिला गांधीनगर, गुजरात ३८२ ००९
- ISBN** : 81-86917-01-2 (Set)  
: 81-86917-02-0 ( Volume - 1 )
- मूल्य** : ४०/- (चालीस रुपये)
- भाषा** : हिन्दी
- संस्करण** : प्रथम प्रतियाँ : २०००
- अक्षरांकन** : श्री कैलाससागरसूरी ज्ञान मंदिर, कांवा
- मुखपृष्ठ** : श्री अशोकभाई शाह (पद्मापुत्र)
- मुद्रक** : चद्रिका प्रिन्टरी, मिरझापुर रोड, अहमदाबाद ३८० ००१

### प्राप्तिस्थान

श्री अरुणोदय फाउन्डेशन  
पुस्तक भंडार  
कोबा - ३८२ ००९  
जि. गांधीनगर

श्री अरुणोदय फाउन्डेशन  
३-४, वॉटर टेन्क, प्रेमचंदनगर  
जजीस बंगलो रोड, वस्त्रापुर  
अहमदाबाद

## प्रकाशकीय....

पिछले कई वर्षों से मनमें यह विचार वार-वार उपस्थित हो रहा था चारित्र्य चूडामणि पूज्य गच्छाधिपति आचार्य श्री कैलाससागरसूरीश्वरजी म. सा. द्वारा संगृहीत 'श्री कथासागर' ग्रंथ का गुर्जर भाषा में प्रकाशन हुआ है जिसका लाभ गुर्जर प्रजा अच्छी तरह से ले रही है; क्यों नहीं इस ग्रंथ का हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित किया जाय?

शुभ संकल्प पूर्वक बोया हुआ यह विचार-बीज आज ग्रंथप्रकाशन के रूप में फलान्वित होते हुए देख हृदय आनंद से संतोष प्राप्त कर रहा है.

ग्रंथ का प्रकाशन करना कोई सरल काम नहीं है बल्कि उसके लिए चाहिए अनेकों का सहयोग. 'सहयोग ही सफलता का सोपान है' उक्ति अनुसार इस ग्रंथ के प्रकाशन में हमें पूज्यपाद शासन प्रभावक आचार्यश्री पद्मसागरसूरीश्वरजी म. सा. का आशीर्वाद रूप सहयोग मिला है. प्रेरणा एवं मार्गदर्शन सहयोग मिला है. पू. गणिवर्य श्री अरुणोदयसागरजी म. सा. का अनुवाद के कार्य में श्री नैनमलजी सुराणा का एवं प्रस्तुत अनुवाद को रोचक एवं सरल बनाने में सहयोग मिला है पूज्या साध्वीवर्या शुभ्रांजनाश्रीजी महाराज का! विद्वद्वय डॉ. श्री जितेन्द्रकुमार वी. शाह के सहयोग को भी कैसे भूल सकते हैं? जिन्होंने अत्यंत व्यस्त होते हुए भी इस ग्रंथ के विषयानुरूप बहुत ही सुंदर मननीय प्रस्तावना लिख कर भेजी है.

अंत में नामी-अनामी सभी शुभेच्छुक-सहयोगीयों का आभार मानते हुए निकट भविष्य में भी हमें सभी का सहयोग निरंतर मिलता रहेगा इसी आशा के साथ...

श्री अरुणोदय फाउन्डेशन

कोवा, परिवार.

## प्रस्तावना

डॉ. जितेन्द्रकुमार बी. शाह

धर्म का मुख्य उद्देश्य जीव को शिव बनाना है. मानव को महामानव और पामर को परमात्मा बनाने की कला ही धर्म है. अनादि काल में जीव संसार में परिभ्रमण करता हुआ अनेकविध कर्ममल का अर्जन करता है. इस परिभ्रमण के काल में कभी किसी मन्मागंदाता गुरु का सुयोग प्राप्त होते ही जीव के विकास का प्रारंभ हो जाता है. अनेक जन्मों में अर्जित कर्मों को दूर करने की प्रक्रिया का प्रारंभ हो जाता है. अद्यावधि अनेकानेक महापुरुषों ने अपने पुरुषार्थ में जीवन को सफल करके आत्मा को संपूर्ण निर्मल किया है. ऐसे महापुरुषों की जीवनगाथा तो उच्च ही होती है. साथ साथ में अनेक जीवात्माओं को प्रेरणा भी देती है. अतः कथाएँ न केवल मनोरंजन के लिए होती हैं किन्तु अनेक आत्माओं को प्रेरणादायी भी होती हैं. महापुरुषों के जीवन चरित्र को सुनकर अनेक जीवात्माने आत्मकल्याण किया है. इसलिए श्रावक के वदितु सूत्र में तो यह कामना की गई है कि महापुरुषों के चरित्रों के श्रवण करते करते ही दिन पसार हो! इसके अतिरिक्त भी कथाओं का बहुत मूल्य है. यहाँ कथाओं का संग्रह प्रकाशित हो रहा है. यह एक आनंद का विषय है.

आयंदेश की भूमि कथाओं के लिए प्राचीनकाल में ही सुप्रसिद्ध है. इस धरा के ऊपर जितनी कथाओं का निर्माण हुआ है शायद ही अन्य किसी धरा पर उतनी कथाओं का प्रणयन हुआ हो! रहस्यात्मक कथाएँ, रोचक कथाएँ, धर्मोपदेशात्मक कथाएँ, लोककथा आदि का यदि संग्रह किया जाए तो न जाने कितने ग्रंथों का निर्माण हो जाएगा? किन्तु एक दुःख की बात यह है कि काल के प्रवाह में अनेक ग्रंथों का नाश हुआ उसमें अनेकानेक कथा ग्रंथों का भी नाश हो चुका है. साथ ही साथ एक सौभाग्य की बात है कि जैन साहित्य में अनेक कथाओं का संरक्षण हुआ है. इसलिए पाश्चात्य मनिपि विन्टरनिल्स ने कहा है कि जैन विद्वानों ने यत्र तत्र विखरी हुई लोककथाओं को अपने धार्मिक आख्यानो में स्थान देकर विपुल साहित्य को सुरक्षित रखने में सहायता प्रदान की है. अन्यथा हम उक्त साहित्य से वंचित रह जाते. इस प्रकार जैन धर्म के साहित्य में अनेक कथा साहित्य के ग्रंथ उपलब्ध होते हैं. ये ग्रंथ अर्धमागधी, मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्रीय प्राकृत भाषाओं में उपलब्ध होते हैं साथ में संस्कृत, अपभ्रंश एवं स्थानीय भाषाओं में भी अनेक उत्तम कथा ग्रंथ प्राप्त होते हैं. आज तक इन कथा ग्रंथों की सूची तैयार नहीं हुई है और कथाओं की भी सूची तैयार नहीं हो पाई है अतः भविष्य में कोई विद्वान् इस तरह की सूची तैयार करेंगे तो साहित्य जगत की बहुत ही महती सेवा मानी जाएगी! अस्तु!

जैन साहित्य का उद्गम स्थान आगम ग्रंथ है. तीर्थंकर परमात्मा के उपदेश को गणधर भगवंतो ने आगम ग्रंथों में प्रथित किया है. तत्पश्चात् शास्त्रकार महामनिपिओं ने उनकी व्याख्यादि की रचना की है. इन आगम ग्रंथों को चार अनुयोग में विभाजित किया गया है. (१) द्रव्यानुयोग, (२) गणितानुयोग, (३) चरणकरणानुयोग एवं (४) कथानुयोग. इन चार अनुयोगों में प्रधानता चरणकरणानुयोग की मानी गई है क्योंकि प्रस्तुत अनुयोग साध्य है अन्य तीन अनुयोग साधन स्वरूप हैं! तथापि जीव की विकास की प्राथमिक अवस्था में धर्मकथानुयोग ही उपयोगी होता है. एवं सभी अनुयोगों में धर्मकथानुयोग ही सुलभ, सुगम एवं सरल है अतः सभी को

उपयोगी हो सकता है. इस प्रकार जैन आगम में धर्मकथाओंका महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है.

आगम ग्रंथों में कथाओं के प्रकार, भेद-प्रभेद आदि के विषय में सूक्ष्म एवं गहन चिंतन प्राप्त होता है. कथाओं के प्रकार के विषय में जैन धर्म में जितना चिंतन किया गया है शायद ही अन्य धर्म में प्राप्त होता है. आगम ग्रंथ में सर्व प्रथम कथा के दो प्रकार विकथा एवं कथा किया गया है.

जो कथा जीवन में विकार उत्पन्न करती है वह विकथा है उससे माधक को दूर रहने का उपदेश दिया गया है. ऐसी कथाओं का चार मुख्य भेद है यथा - स्त्री कथा, देश कथा, भक्त कथा और राज कथा. इन कथाओं के श्रवण से माधक के मनमें राग, द्वेष, क्रोधादि कषाय एवं कार्मादि विकार उत्पन्न होते हैं इसमें जीवन उर्ध्वगामी न वनकें अधोगामी वनता है. अतः जीवको इन कथाओं से दूर रहने का उपदेश दिया है. धर्मकथा वह है जिसमें जीव का आत्मविकारण हो इसके चार प्रकार बताए गए हैं.

(१) आक्षेपणी कथा. (२) विक्षेपणी कथा, (३) संवेदनी कथा और (४) निर्वेदनी कथा.

(१) आक्षेपणी कथा :- जिस कथा में जीव का ज्ञान एवं चारित्र्य के प्रति आकर्षण पैदा होता है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं.

(२) विक्षेपणी कथा :- जिस कथा में जीव सन्मार्ग में स्थापित हो उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं.

(३) संवेदनी कथा :- जिस कथा में जीव को जीवन की नश्वरता, दुःख बहुलता, अशुचिता आदि का बोध हो और उसमें वैराग्य उत्पन्न हो उसे संवेदनी कथा कही जाती है.

(४) निर्वेदनी कथा :- जो कृत कर्मों के शुभाशुभ फल को बतलाकर संसार के प्रति उदासिनता बताती हो उसे निर्वेदनी कथा कहते हैं.

इस प्रकार उक्त चार भेद एवं प्रत्येक कथा के प्रभेदों की चर्चा प्राप्त होती है. एक अन्य विभाग में कथाओं के तीन भेद किए गए हैं यथा धर्मकथा, अर्थकथा, काम कथा. दशवैकालिक गुप्त में कथाके चार भेद पाए जाते हैं. धर्म कथा, अर्थ कथा, काम कथा एवं संकीर्ण कथा.

जिस कथा में मानव की आर्थिक समस्याओं का समाधान किया गया है उसे अर्थ कथा कहते हैं.

जिसमें मानवी के केवल रूप मौंदर्य का ही नहीं अपितु! जातीय समस्याओं का विश्लेषण हो उसे काम कथा कहते हैं.

जिसमें जीवन को उन्नत बनाने वाले शील, मयम, तप, धर्म आदि का कथा द्वारा वर्णन किया गया हो उसे धर्म कथा कहते हैं. जिसमें धर्म-अर्थ एवं काम तीनों का वर्णन पाया जाता हो उसे संकीर्ण कथा या मिश्रकथा कही जाती है. आचार्य हरिभद्रसूरिन कथाओं के उक्त विभागों का वर्णन समरादित्य कथा में किया है. धर्मकथा का छोड़कर अन्य दो प्रकारकी कथाएँ संसार की वृद्धि करने वाला होन के कारण त्याज्य मानी गई हैं. धर्म कथा कम निर्जरा का कारण ज्ञान में उपादेय मानी गई है.

उद्योतनसूरि की कुवलयमाला कथा में कथाओं का एक अन्य विभाजन प्राप्त होता है उनके मतानुसार कथा के पांच प्रकार हैं. यथा-

(१) सकल कथा - जिस कथा के अन्त में सभी प्रकार के अभीष्ट की प्राप्ति होती हो उसे सकल कथा कही जाती है.

(२) खंड कथा - संक्षिप्त कथावस्तु वाली कथा को खंड कथा कहते हैं।

(३) उल्लापकथा - समुद्रयात्रा या साहसपूर्ण किया गया प्रेम निरूपण जिसमें हो उल्लापकथा कहते हैं।

(४) परिहास कथा - हास्य एवं व्यंगात्मक कथा को परिहास कथा कहते हैं।

(५) संकीर्ण कथा - जिसमें कथा के अन्य तत्त्वों का प्रायः अभाव हो उसे संकीर्ण कथा कहते हैं।

इस प्रकार कथाओं के विभिन्न प्रकार उपलब्ध होते हैं। उन सबमें कर्मबन्ध करने वाली, गगद्वेष की वृद्धि करने वाली कथाएँ त्याज्य बताई गई हैं। धर्म कथा को प्राह्य बताई गई है। इन धर्म कथा के श्रवण से जीव अपने पूर्ववद्ध कर्मों को नष्ट कर के आत्म विकास कर सकता है।

करीब २५०० वर्ष पूर्व यूनानी दार्शनिक सांक्रिटिसने कहा है कि कथावार्ताओं के श्रवण से मानव अपने भावावेशों का विरंचन याने शुद्धीकरण करता है और उससे वह सामर्थ्य प्राप्त करता है तत्पश्चात् सुखानुभव होता है। अतः कथाओंका श्रवण निरंतर करना चाहिए।

चरम शासनपति परमात्मा महावीर स्वामी को धर्मकथा के विषय में पूछा गया प्रश्न एवं उत्तर इस प्रकार है -

**धम्म कहाए णं भंते! जीवे किं जणयइ? धम्मकहाए णं निज्जरं जणयइ, धम्म कहाए णं पवयणं पभावेइ, पवयण पभावे णं जीवे आगमिस्स भदत्ताए कम्मं निबन्धइ (उत्तरा. २९/२८)**

अर्थात् - हे भगवन्त! धर्म कथा से जीव क्या प्राप्त करता है?

उत्तर - धर्म कथा से निर्जरा होती है, जिन प्रवचन की प्रभावना होती है, प्रवचन की प्रभावना करने वाला जीव भविष्य में कल्याणकारी फल देने वाले कर्मों का अर्जन करता है।

यहाँ यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अन्य कथाओं की तरह धर्मकथा न केवल मनोरंजन करने या कालक्षेप करने के लिए ही है अपितु धर्मकथा का श्रवण-मनन-वांचन जीवन की शुद्धि का एक अपूर्व साधन भी है। कथावार्ताओं से मानव जीवन का विकास होता है। श्रवण एवं पठन से जीवन में रस पैदा होता है, पुण्य का अर्जन होता है पाप का नाश होता है, जीवन में सदाचार स्थिर होता है और असदाचार का नाश होता है, मलीन भावों के दुष्ट परिणामों के ज्ञान से निवृत्त होता है एवं शुभ भावों के आचरण से लाभ होता है यह जानकर उसमें प्रवृत्त होता है, मन्मार्ग में उत्साह पैदा होता है, मैत्री आदि शुभ भावोंका भी उद्भव होता है, क्रोधादि कषायों का नाश होता है। इस प्रकार धर्मकथाएँ जीवन में अनेक प्रकार से उपयोगी हैं, इसीलिए महान् जनाचार्यों ने एक ओर उच्च कोटी के शास्त्र ग्रंथों का निर्माण किया वहीं दूसरी ओर लोकभाष्य, सरल एवं सुबोध भाषा में उपदेशात्मक कथा साहित्य का भी निर्माण किया है। जन कथा साहित्य का संक्षिप्त इतिहास का अवलोकन आवश्यक है।

जन धर्म के मूल शास्त्र ग्रंथ आगम हैं। आगम ग्रंथों में जहाँ दर्शन, सिद्धान्त, भूगोल, खगोल आदि विषय का विवेचन प्राप्त होता है वहीं धर्मकथाओं का संग्रह भी प्राप्त होता है। ज्ञाताधर्मकथा नामक अंग आगम में अनेक कथाओं का संग्रह प्राप्त होता है, उसमें अनेक उपदेशात्मक रूपक कथाएँ भी हैं, जो साधक का प्रेरणा एवं बल प्रदान करती हैं, उसके अतिरिक्त उपासक दशांग सूत्र एवं उत्तराध्ययन और नदीसूत्र में भी रोचक कथाएँ मिलती हैं। प्रस्तुत कथा तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थिति का ही निर्देश नहीं करती किन्तु तत् तत् परिस्थितिओं में साधक आत्मा को अपनी साधना में कैम स्थिर रहना चाहिए उसका स्पष्ट

निर्देश भी करती है. तत्पश्चात् आगम बाह्य ग्रंथों में तो अनेकानेक कथा ग्रंथों का निर्माण हुआ है. विशाल कथाएँ, संक्षिप्त कथाएँ, रूपक कथाएँ, आख्यानक, आदि का निर्माण हुआ है उन सबका विवरण देना संभव नहीं अतः कुछ महत्त्वपूर्ण कथा ग्रंथों का निर्देश ही पर्याप्त मान रहा है. राम के विषय में भारत में अनेक कथाओं का निर्माण हुआ. न केवल वाल्मीकी की रामायण ही अपितु अनेक विभिन्न धर्मों में विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न भाषाओं में रामायण की रचना हुई है. इन सब उपलब्ध रामायण ग्रंथों में सबसे प्राचीन रामायण विमलसूरि की पठमचरिय है. उसमें रामकी विस्तृत जीवनगाथा दी हुई है. जो प्रचलित रामायण से कई जगह भिन्न है उसका अध्ययन अत्यंत आवश्यक है. तत्पश्चात् संघदास गणि की वसुदेवहिंडी सुप्रसिद्ध है. वसुदेव की यात्रा प्रवासका वर्णन इसमें प्राप्त होता है. यात्रा प्रवास के दौरान प्राप्त कथाओं का एक विस्तृत

संग्रह इसमें है अनेक संत महात्माओं का जीवन वृत्त भी दिया गया है. जैन धर्म का ही नहीं किन्तु आर्य संस्कृतिका यह एक अणामाल ग्रंथ है. आचार्य हरिभद्रसूरि का मुद्रप्रसिद्ध कथा-ग्रंथ समराइच्चकहा वैराग्यप्रेरक एवं संगार से विरक्ती पैदा कराने वाला श्रेष्ठ ग्रंथ है. जिसका देश-विदेश की अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है. वर और द्वेप की वृत्ति में जन्म जन्मान्तर में क्रम तरह पतन होता है उसका अद्भुत वर्णन किया गया है. धृताख्यान भी हरिभद्रसूरिका प्रसिद्ध कथाग्रंथ है. दक्षिण्य चिन्तन उद्योतनसूरि कृत कुवलवमाला भी अत्यन्त सुप्रसिद्ध कथा ग्रंथ है. जिसमें क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मोह के दुष्परिणामों का वर्णन किया गया है. यह ग्रंथ भी भाषा एवं शैली के कारण ही श्रेष्ठ नहीं है अपितु मानव भावों का सहज निरूपण इसमें किया गया है और शुभ भावों में उन्नति एवं अशुभ भावों में अवनति का वर्णन माधकको बल प्रदान करता है. इमी शृङ्खला में शीलाकाचार्य का चउपन्नमहापुरुष चरित्र, तिलकमंजरीकथा, भुवनमुंदगे कथा, धनेश्वर मुनि विरचित मुरमुंदरी कथा, महसूरि रचित मीता चरिय, भद्रेश्वरसूरिकृत कहावली कथा, आख्यानकमणी कांश, विभिन्न तीर्थंकर चरित्र, कुमारपाल चरित्र, मिरिवाल कहा, जम्बूसामी कहा, मनारमा कहा प्रमुख है. उपदेशमाला, मीलावडेस माला, धर्मपरीक्षा आदि ग्रंथों में भी अनेक कथाएँ मिलती है.

संस्कृत भाषा में भी अनेक कथा ग्रंथोंका निर्माण हुआ है. अनेक प्रबन्ध, महाकाव्य एवं कथाग्रंथों की रचना हुई है जिसमें कई कथाएँ तो विश्व प्रसिद्ध है यथा धनपाल विरचित तिलकमंजरी कथा, कलिकाल सर्वज्ञकृत त्रिपण्डिशलाका पुरुष कथा एवं परिशिष्ट पर्व आदि. उसके अतिरिक्त धर्मरत्न करंडक, कथा रत्नाकर आदि प्रमुख है.

जब लोकभाषा में संस्कृत एवं प्राकृत का प्रचलन लुप्त होता गया और उनका स्थान अपभ्रंश एवं क्षेत्रिय भाषाओं ने लिया तब जैन मनीषियों ने सामान्य जनों का उपकारी कथा साहित्य का निर्माण लोकभाष्य भाषा में शुरु कर दिया. उसमें राम, चौपाई, आख्यान, प्रमुख है. जैसे अंबडविद्याधर राम, आराम शांभा राम एवं चौपाई, मलतुंग मलवतीराम, नलदवदंती राम, शकुंतला राम, शीलवती राम आदि अनेक राम प्राप्त होते हैं. आजभी अनेक राम केवल पांडुलिपियों में हैं जिसका प्रकाशन होना शेष है.

इस प्रकार कथा साहित्य का प्रत्येक युग में विक्रम होता गया है. इस प्रकार जैन कथा साहित्य अत्यंत समृद्ध एवं श्रेष्ठ है.

पुण्य गच्छाधिपति आचार्यश्री कैलाससागरसूरिजी ने इन कथाग्रंथों में से कुछ महत्त्वपूर्ण कथाओं का चयन करके कथार्णव नामक ग्रंथ प्रकाशित करवाया था. प्रस्तुत ग्रंथ संस्कृत भाषा में

## VIII

होन में सामान्य जन को यह ग्रंथ अनुपादेय रहा इसलिए उनके मन में विचार उद्भाषित हुआ कि प्रस्तुत ग्रंथ की कथाओं का गुजराती अनुवाद किया जाय तो सबको लाभ होगा। यह विचार उन्होंने कार्यान्वित किया और गुजराती अनुवाद का कार्य पंडित मफतलाल भाई गांधी को सौंपा गया। अनुवाद होता गया और प्रकाशित भी हो गया। अनुवाद का नाम जैन कथासागर रखा गया। इसमें १०१ कथाओं का समावेश किया गया है, जो श्राद्धविधि, श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्र, श्राद्धगुण विवरण, शीलोपदेशमाला, उपदेशमाला, धर्मकल्पद्रुम, त्रिपट्टिशलाकापुरुष प्रस्तावशतक, कथारत्नाकर, परिशिष्ट पर्व आदि ग्रंथों से ली गई हैं।

इसमें लघुकथा एवं बृहद् कथा का भी समावेश किया गया है। इन कथाओं का मुख्य उद्देश जीवनमें दुर्गुणों का नाश करके सदगुणों को बढ़ा देना है। त्याग, विनय, विवेक, वैराग्य, अहिंसा आदि का उदय हो और जीव धर्माभिमुख एवं आत्माभिमुख हो यही मुख्य भावना इन सभी कथाओं के पीछे है। इसमें यशोधर चरित्र, चंद्रराजा चरित्र, धर्मरुचि शेट, जिण्हा शेट, मानदेवसूरि रत्नाकरसूरि, भरतवक्रवर्ति, बाहुबलि, वंकचूल, हीलिका आदि की कथाएँ जीवन परिवर्तन के लिए महत्त्वपूर्ण संदेश दे रही हैं। इस तरह यहाँ प्रकाशित होने वाली सभी कथाएँ जीवन के विभिन्न पक्ष को स्पर्श करती हैं, जिस का अध्ययन जीव को आत्मिक बल प्रदान करती हैं। अतः अवश्य पठनीय एवं मननीय ग्रंथ है।

१९५३ में जैनकथा सागर का तृतीय भाग प्रकाशित हुआ तब पं. श्री शिवानन्दविजयजी गणि ने प्राक्कथन में लिखा है कि "जैन कथासागर गुजरात में तो बहुत ही पढ़ा जाता है एवं समाज भी उसका पर्याप्त लाभ उठा रहा है। तथापि जैन कथासागर के प्रेरक एवं लेखकों मध्व्यवाद नम्र निवेदन है कि आज हिन्दी भाषा राष्ट्र भाषा एवं सर्वमान्य भाषा होने में इसका हिन्दी भाषा में अनुवाद प्रगट हो तो मारवाड़, मंडाड़, मध्यभारत आदि में रहने वाले जैन भाईओं को बहुत ही लाभ होगा, जो इन ग्रंथों में लाभान्वित होंगे उनकी धर्मभावना दृढ होगी और जैन शासन की प्रभावना होगी।" पचास साल पूर्व हिन्दी अनुवादकी भावना की गई थी आज उक्त भावना परिपूर्ण हो रही है, यह अतीव आनंद एवं हर्ष की बात है।

शासन प्रभावक आचार्य श्री पद्मसागरसूरीधरजी म. सा. के आशीर्वाद में एवं गणिवर्य श्री अरुणादयसागरजी म. सा. की सत्प्रेरणा से इस ग्रंथ का मरल एवं भाववाही अनुवाद किया गया है। माध्वीजी शुभ्रंजनाश्रीजी म. (गणिवर्य श्री अरुणादयसागरजी म. सा. की सांसारिक छात्री बहन) ने इस ग्रंथ का सुंदर संपादन कर कथाओं की प्रस्तुती को मरल एवं रोचक बनाया है, जो आज के युग में बहुत ही उपादेय सिद्ध होगा। पूज्य गणिवर्य श्री के अंतर में भी यही भावना घुमरा रही थी कि प्रस्तुत ग्रंथ की कथाएँ जीवन में आमूल परिवर्तन लाने वाली अद्भुत धर्म कथाएँ हैं जिसका लाभ गुजरात बाह्य प्रदेश के हिन्दी भाषी श्रावक एवं गृहस्थों को मिले तो कल्याण हो सकता है अतः इस ग्रंथ का अनुवाद करवाकर प्रकाशित करवाया है, जिसके लिए पूज्य गणिवर्य श्री को बहुत-बहुत धन्यवाद। कथासागर के शेष भाग एवं अन्य ऐसे अनेक ग्रंथ हैं जिसका हिन्दी अनुवाद आवश्यक है। पूज्य गणिवर्य श्री भविष्य में भी प्रस्तुत कार्य की परंपरा चालू रखें यही शुभ भावना।

अन्त में श्री अरुणादय फाउण्डेशन एवं उसके अभ्यासीओं को भी धन्यवाद, जो इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्य में संपूर्ण सहयोग प्रदान कर रहे हैं।



## अनुक्रमणिका

कथा-क्रम		पृष्ठ-संख्या
१.	श्री पार्श्वनाथ भगवान का चरित्र	१
२.	सनत्कुमार चक्रवर्ती	१४
३.	ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती	१८
४.	सुनन्दा एवं रूपेसन	२७
५.	पुण्याढ्य राजा की कथा	३८
६.	अवन्तिसुकुमाल का वृत्तान्त	४६
७.	मुनि अरणिक की कथा	५०
८.	आर्द्रकुमार का वृत्तान्त	५०
९.	यशोवर्मा नृप कथा	६६
१०.	मेघकुमार का कथानक	६९
११.	इलाचीपुत्र कथा	७३
१२.	ढंढण मुनि की कथा	७८
१३.	महात्मा चिलाती पुत्र	८२
१४.	महामुनि नंदिषेण	८९
१५.	थन्ना एवं शातिभद्र	९४
१६.	सांझरीया मुनि	१०६
१७.	अमरकुमार की कथा	११२
१८.	कीर्तिधर एवं सुकोशल मुनि	११९
१९.	महात्मा दृढप्रहारी	१२६
२०.	सती अंजनासुंदरी	१३१
२१.	कपिल केवली की कथा	१३७
२२.	नभि राजर्षि की कथा	१४५





# श्री पार्श्वनाथ भगवान का चरित्र

## वैर का दावानल

जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में रमणीय, मनोहर, श्वेत शिखरों से युक्त मन्दिरों से सुशोभित पोतनपुर नामक एक अद्भुत नगरी थी, जहाँ नित्य ज्ञान-गंगा प्रवाहित होती थी। उक्त नगरी धर्म की जननी थी। वहाँ अनेक सामन्त राजाओं से सुसेवित, शूरवीर एवं प्रतापी अरविन्द नामक नरेश थे, जिनकी रूप-यौवन-सम्पन्न, उत्तम गुणों से युक्त, अद्भुत लावण्यवती, हिम तुल्य शीतल एवं सुकोमल रति सुन्दरी नामक रानी थी और बुद्धि का सागर मत्स्यसागर नामक एक चतुर महामात्य था।

## प्रथम भव

महाराजा अरविन्द की नगरी में विश्वभूति पुरोहित ब्राह्मण निवास करता था, जो राजा का अत्यन्त प्रेमपात्र था। उसके अत्यन्त विनयी एवं शीलवती अनुरुद्धा नामक पत्नी थी। समय व्यतीत होने पर उस पुरोहित के घर विनयी, गुणवान एवं रूपवान कमठ एवं मरुभूति नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। पुरोहित परिवार जिनेश्वर भगवान का अनन्य उपासक था। एक बार संभूत नामक जैन मुनिवर के सम्पर्क से उन्हें नौ तत्त्वों एवं कर्मग्रन्थ का ज्ञान प्राप्त हुआ। 'संसार असार है, जिनेश्वर भगवान की आज्ञा का पालन करने में ही हमारा कल्याण है, उसके अतिरिक्त हमारा कल्याण नहीं है' - ऐसी उनकी अटूट मान्यता थी। वे निश्चय पूर्वक यह मानते थे कि भगवान के वचनों के अतिरिक्त सब मिथ्या है। इस प्रकार भगवान की आज्ञा का पालन करते हुए वे संसार में अपना जीवन यापन करते थे। देश के रक्षक सैनिकों की तरह वे चतुर थे और कर्म राजा के सैनिकों से वे अपनी आत्मा की सुरक्षा करते थे।

अप्रमत्तता पूर्वक धर्मारोपण करते हुए वे बड़े हुए और विश्वभूति विप्र ने अपने पुत्रों को वयस्क जानकर दो कुलीन, रूपवती एक कमल-दल तुल्य कमनीय कुमारियों के साथ उनका विवाह कर दिया।

कमठ की पत्नी का नाम था वरुणा तथा मरुभूति की पत्नी का नाम था वसुन्धरा। विश्वभूति ने संसार को असार समझ कर, जीवन को क्षण-भंगुर मानकर संसार के समस्त प्राणियों के साथ क्षमापना करके गुरुदेव से भव-आलोचना लेकर अनशन किया। वह परमेष्ठियों के ध्यान में लीन हो गया, तन्मय हो गया और शुभ ध्यान में मृत्यु प्राप्त करके सौधर्म देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न हुआ। उसकी पत्नी सति अनुरुद्धा भी

अपने स्वामी के पश्चात् संसार को भयानक दावानल तुल्य जान कर तप, जप और ध्यान में लीन हो गई और अन्त में उसका देहान्त हो गया। उनके पुत्र कमठ एवं मरुभूति अपने माता-पिता की अन्तिम क्रिया से निवृत्त होकर सांसारिक कार्यों में लग गये।

वे माता-पिता के विरह से व्यथित हो समय व्यतीत कर रहे थे, इतने में हरिश्चन्द्र नामक एक मुनि से उनका मिलाप हुआ। उन्होंने मुनिवर के समक्ष उपदेश श्रवण करने की अभिलाषा व्यक्त की। तब मुनिवर ने कहा, 'हे महानुभावो! अनादि काल से यह आत्मा कर्म-बन्धन के कारण जन्म एवं मृत्यु के भयंकर कष्ट सहन कर रही है और अज्ञानवश चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण कर रही है। इस आत्मा ने अनन्त बार जन्म एवं मृत्यु की वेदना को सहन किया है। इसने अनन्त माता-पिता किये हैं। यह संसार की अनादि कालीन स्थिति है, जिसके लिए रुदन मत करो, परन्तु आत्म-विकासक ऐसी धर्म-क्रियाएँ करो जिससे चारित्र्य अंगीकार करके मोक्ष गये हुए सिद्धों की तरह तुम अपना आत्म-कल्याण कर सको। मोक्ष में गये हुए जीव के जन्म, जरा, मृत्यु आदि नहीं होते। ये पुद्गल नश्वर हैं, आज जो तुम हो, वह कल नहीं रहोगे और कल जो तुम थे, वह आज नहीं हो। धर्म की शरण के अतिरिक्त कदापि हमारा कल्याण नहीं है और धर्म के अतिरिक्त हमारी रक्षा करने का सामर्थ्य अन्य किसी में भी नहीं है।'

ऐसी अमृतवाणी श्रवण करके पूर्व पुण्योदय से संसार की भयंकरता समझ कर मरुभूति विरक्त हो गया। उसने गुरुदेव से वारह व्रत ग्रहण किये और वह व्रतधारी श्रावक बन गया। प्राण जाये परन्तु प्रण न जाये - इस प्रकार दृढ़तापूर्वक वह व्रतों का आचरण करने लगा। अपनी रूपवती पत्नी के प्रति भी उसकी दृष्टि निर्मल थी और वह विचार करता कि वह दिन कब आयेगा जब मैं चारित्र्य अंगीकार करूँगा और इस संसार की मोह-माया से मुक्त बनूँगा। गुरुदेव के उपदेश से संयम अंगीकार करने की तीव्र लगन लगी। कमठ तो अनीति एवं दुराचार के मार्ग की ओर उन्मुख हुआ। गुरुदेव का संयोग तो प्राप्त हो जाये, परन्तु धर्म-भावना जागृत होनी दुष्कर है। पूर्व पुण्योदय से धर्म सामग्री मिलती है। मानव-जन्म प्राप्त होना कठिन है। धर्म प्राप्त करना उससे भी अधिक कठिन है और उसमें भी भागवती दीक्षा अंगीकार करना अत्यन्त ही कठिन कार्य है।

यौवन की उन्मत्तता में कमठ एवं वसुन्धरा पाप का भय रखे बिना दुराचारों का सेवन करने लगे। उन्होंने लोक एवं कुल की मर्यादा का परित्याग कर दिया। वे अति विषयी बन गये। उन दोनों के दुराचार को एक दिन कमठ की पत्नी वरुणा ने देख लिया और वह ईर्ष्या की अग्नि में जलने लगी। दिन-प्रतिदिन वैर लेने की वृत्ति से वैर का दावानल भड़कता रहा। विषय-भोग की तीव्र लालसा उसके रोम-रोम में व्याप्त हो गई और तीव्र कषाय के कारण उसने यह पाप मरुभूति को बता दिया, जिससे मरुभूति

का हृदय अत्यन्त व्यथित हुआ। मरुभूति के मन में वरुणा के इस कथन पर सन्देह हुआ। तत्पश्चात् उसने भी अनेक स्थानों से यह बात सुनी, जिससे उसके मन में कषाय उत्पन्न हुआ। मरुभूति ने उन दोनों का दुराचार प्रत्यक्ष देख लिया, और उसने कमठ के दुराचरण के विषय में राजा अरविन्द को निवेदन किया। राजा ने अपने दूत के द्वारा पता लगाया और उनके दुराचारों के सम्यन्ध में सच्चाई जानकर कमठ को दण्ड दिया कि इस दुराचारी के कान छेद कर, मुँह पर कालिख लगा कर, उलटे मुँह गधे पर बिठाकर राज्य की सीमा रो वाहर निष्कासित कर दिया जाये, अतः राजा के आदेशानुसार कमठ को देश से निष्कासित कर दिया गया। वह भटकता हुआ तापस दीक्षा ग्रहण करके अनेक महिनों तक उपवास की तपस्या करता हुआ आश्रम में निवास करने लगा। वैराग्नि से किये गये अपने दुष्कृत्य के लिये मरुभूति को घोर पश्चाताप हुआ और वह सोचने लगा, अरे! मुझ पापी ने व्रत ग्रहण करके दूसरे के पाप राजा के समक्ष प्रकट किये, मेरे स्वयं के हाथों कुल-प्रतिष्ठा कलंकित हुई और मैंने विषय-वासना के आवेश में ध्यान नहीं रखा। इस तरह मैंने घोर पाप-कर्म उपार्जन किया। पश्चाताप करके मरुभूति अपने ज्येष्ठ भ्राता से क्षमायाचना करने के लिए आश्रम में गया।

ज्येष्ठ भ्राता के चरणों में गिरकर उसने अन्तःकरण से क्षमा याचना की। उसके नेत्रों से अश्रु टपकते रहे और अपने दुष्कृत्य की क्षमा याचना करते हुए वह बोला, 'हे ज्येष्ठ भ्राता, आपके समान पुण्यशाली आत्मा पर मैंने कलंक लगाया और राजा से निवेदन करके आपको दण्ड दिलवा कर देश से निष्कासित कराया। अब मैं आपको सम्मान पूर्वक पुनः घर लौटा ले जाऊँ तो ही आपकी और मेरी आत्मा को शान्ति होगी।'

यह सुनते ही कमठ को पूर्व की बातों का स्मरण हुआ और उसमें वैर का दावानाल फूट पड़ा।

उसको अपना तिरस्कार कराने वाले के प्रति अत्यन्त क्रोध आया और उसके नेत्रों से मानों अग्नि वरसने लगी, उसकी मुट्टियाँ कस गई, दाँत किटकिटा उठे और उसके रोम-रोम में भयंकर वैराग्नि भड़क उठी। उसने समीप पड़ी हुई विशाल शिला उठा कर चरणों में गिरे हुए मरुभूति के सिर पर दे मारी, जिससे पल भर में उसका सिर चकनाचूर हो गया। कमठ के इस क्रूर आचारण से मरुभूति को घोर वेदना हुई और वह दुर्ध्यान में मर कर तिर्यच योनि में हाथी के रूप में उत्पन्न हुआ।

कमठ की ऐसी क्रूरता देख कर वहाँ उपस्थित लोग तड़प उठे और उन्होंने उसका तिरस्कार किया। उसे आश्रम में से धक्के मार कर निकाल दिया गया। अधिक तिरस्कार होने के कारण उसके हृदय में मरुभूति के प्रति पुनः वैराग्नि भड़क उठी।

कमठ जंगल में इधर-उधर भटकता हुआ पशु तुल्य जीवन पूर्ण करके रौद्र ध्यान

में मर कर कुर्कुट जाति के साँप के रूप में उत्पन्न हुआ।

मरुभूति की शिकायत पर दण्ड देने वाले राजा एक दिन अपने राज-प्रासाद के झरोखे में बैठे हुए थे। उस समय वर्षा ऋतु के दिन थे, आकाश में घनघोर वादल घिर रहे थे और बिखर रहे थे। यह दृश्य देख कर राजा को बोध हुआ-

*विद्युत् लक्ष्मी प्रभुता पतंग, आयुष्य तो है जल की तरंग।*

*पुरंदरी चाप अनंग रंग, क्या रावें जहाँ क्षण का प्रसंग?*

उन्हें संसार की असारता का ज्ञान हुआ। वे सोचने लगे - 'आयुष्य क्षणभंगुर है।' उन्हें संसार से विरक्ति हो गई और उन्होंने अपने पुत्र को राज्य-सिंहासन सौंप कर आचार्य भगवन् श्री समन्तभद्राचार्य से दीक्षा अंगीकार कर ली। अनेक वर्षों तक संयम की निर्मल आराधना करके उन्हें अवधिज्ञान प्राप्त हो गया।

### दूसरा भव

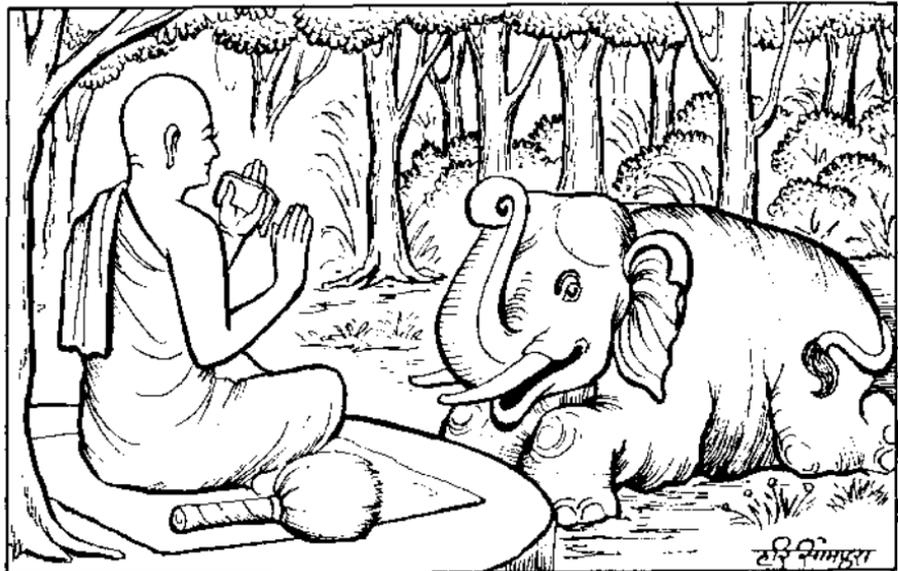
मरुभूति ने धर्म को जानकर, सम्पत्त्व प्राप्त किया, देशविरतिधर श्रावक बना परन्तु प्रमादवश अपनी तुच्छ भूल के फल स्वरूप वह कर्म के चक्कर में पड़ गया और आर्त्तध्यान में मर कर दण्डकारण्य में हाथी की योनि में उत्पन्न हुआ। वहाँ वह सैंकड़ों हथिनियों का स्वामी बना और इच्छानुसार वन में घूमने लगा। इतने में अवधिज्ञानी श्री अरविन्द मुनि संघ के साथ वहाँ पधारे और प्राकृतिक सौन्दर्य से सुशोभित पवित्र स्थान पर बैठ कर वे उन श्रावकों को अष्टापद तीर्थ की अद्भुत महिमा बताने लगे। इतने में वह मदोन्मत्त हाथी अपनी हथिनियों के साथ वृक्षों को उखाड़ता हुआ वहाँ आया। उसे देखकर लोग भयभीत हो गये और वहाँ से भाग खड़े हुए तथा सुरक्षित स्थानों पर चले गये, परन्तु अरविन्द मुनि हाथी को देख कर तनिक भी भयभीत नहीं हुए। अवधिज्ञान से प्रतिबोध का अवसर जान कर वे कायोत्सर्ग ध्यान में स्थिर हो गये।

मुनिवर को देखते ही हाथी उनका संहार करने के लिये उनकी और लपका, परन्तु उनके तपोबल से उसका बल निरर्थक सिद्ध हुआ और वह मुनिवर का संहार करने में असफल रहा। आवेश कम होने पर मुनिराज की शीतल वाणी हाथी के कानों में पड़ी, 'हे वनराज! तुम अपना पूर्व भव स्मरण करो। तुम पूर्व भव में मरुभूति श्रावक थे। कर्म के चक्कर में तुम्हारी यह दशा हुई है, अतः कुछ क्षण शान्त चित्त से विचार करो।'

इस प्रकार की मन मोहिनी मधुर वाणी का श्रवण करते ही हाथी विचार में पड़ गया। सोच-विचार करने पर उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया और चिन्तन करने के पश्चात् पश्चाताप करता हुआ वह अविरल रुदन करने लगा। उसने उपकारी मुनिवर को वन्दन

किया और भाव पूर्वक वह उनकी सेवा करने लगा। उसने मुनिवर को रो रोकर अपना उद्धार करने की विनती की। उसे धर्माराधना का स्मरण हो गया। मुनिवर ने उसे उपदेश दिया, 'हे वन-हरती! तुम तिर्यच होने के कारण संयम अंगीकार नहीं कर सकते, परन्तु अपना सन्ताप मिटा कर जैन धर्म अंगीकार करो, सम्यक्त्व युक्त ग्यारह व्रत ग्रहण करो और भव-सागर से उद्धार करने वाले पंच परमेष्ठि का एकाग्र चित्त से नित्य स्मरण करो।'

हाथी ने नत-मस्तक होकर अपनी सूंड ऊपर उठाई और व्रत ग्रहण करने के लिए वह सहमत हुआ। तब मुनिवर ने हाथी को ग्यारह व्रत ग्रहण कराये और वह विशुद्ध व्रतधारी सम्यक्त्व प्राप्त करके पीछे हट गया और जिस मार्ग से वह आया था, उसी मार्ग से लौट गया। अरविन्द मुनिवर शुद्ध चारित्र्य का पालन करके, अन्त समय में अनशन करके स्वर्ग सिधारे। हाथी को वैराग्य उत्पन्न होते ही वह सचित्त आहार का त्याग करके नीरस शुष्क पत्ते खाने लगा। उसने संसार के कीचड़ में फँसाने वाली हथिनियों के साथ विषय-भोगों का परित्याग कर दिया और जयणा पूर्वक निर्वाह करने लगा। प्राण जाये पर प्रण न जाय, उसके लिए वह सतर्कता पूर्वक व्रतों का पालन करने लगा। इस प्रकार देह-कष्ट सहन करने से हाथी कृशकाय हो गया। उधर कमठ दुर्ध्यान में मर कर इसी वन में एक भयानक हिंसक साँप बन गया और जीवों की हिंसा करता हुआ वह क्रूरतापूर्ण जीवन जीने लगा।



पार्श्वनाथ प्रभु का जीव हाथी के भव में नतमस्तक होकर अपनी सूंड ऊँठा कर व्रत ग्रहण करने की सहमति देता है।

हाथी अट्ठम के पारणे अट्ठम करने लगा। एक बार प्यास लगने से वह अचित्त जल पीने के लिए एक सरोवर पर गया और वहाँ खड्डे पें पाँव रख कर जल पीने लगा। जल पीते-पीते उसका पाँव कीचड़ में फँस गया और ज्यों-ज्यों पाँव बाहर निकालने का प्रयत्न करने लगा, त्यों-त्यों उसका पाँव कीचड़ में फँसता गया। इतने में कुर्कुट साँप वहाँ आया। हाथी को देखते ही उसकी पूर्व भव की शत्रुता की भावना जाग्रत हो गई और ऐसा अवसर पुनः प्राप्त नहीं होगा - यह सोचकर वह हाथी का संहार करने के लिए उसके सिर पर चढ़ गया और उसने उसके सिर के कोमल भाग पर विपाक्त दाढ़ों से डस लिया। हाथी समझ गया कि यमदूत अब उसे लेने के लिए आ रहे हैं। अब मृत्यु सन्निकट है। ऐसे अवसर पर हाथी समभाव से भयंकर वेदना सहन करता हुआ, समस्त जीवों से क्षमा-याचना करके, पंच परमेष्ठि के स्मरण पूर्वक साँप को अपना उपकारी मानकर और शुभध्यान में मर कर आठवे देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न हुआ। कुर्कुट साँप अपने वैर का बदला लेकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और हाथी ने समभाव से वेदना सहन की इस विषय में विचार कर वह और अधिक वैराग्नि में जलने लगा। इस प्रकार वैर का बदला लेने की वृत्ति से मर कर घोर पाप कर्म के बंधन में बंध कर वह पाँचवी नरक में उत्पन्न हुआ।

### तीसरा भव

मरुभूति आठवे देवलोक में देव बन कर उत्तम सुखों का आनन्द लेने लगा और कमठ घोर पाप-कर्मा के कारण पाँचवी नरक में भयंकर नारकीय वेदना सहन करने लगा।

### चौथा भव

मरुभूति - किरणवेग विद्याधर।

कमठ - योजनदेही साँप।

महाविदेह क्षेत्र के वैताढ्य पर्वत पर स्थित तिलकपुर नगर में विद्युत्गति नामक विद्याधर राजा था, जिसके तिलकावती नामक रानी थी। मरुभूति का जीव रानी तिलकावती की कुक्षि से पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ, जिसका नाम किरणवेग रखा गया। राजकुमार उत्तम प्रकार से अध्ययन करता हुआ जीवन यापन करने लगा। युवावस्था प्राप्त होने पर राजकुमार का विवाह रूपवती राजकुमारी पद्मावती के साथ किया गया। एक बार जब गगन मार्ग से आचार्य भगवन्त के साथ अनेक श्रुत-सागर मुनि भगवन्त राजा के उद्यान में पधारे। देवताओं ने वहाँ कमलों की रचना की और उस पर उन मुनियों ने अपने आसन जमाये तब नगर-निवासियों तथा राजा ने भी उक्त उद्यान में गुरुदेव की वाणी श्रवण की। आचार्य भगवन्त ने संसार की असारता तथा मानव-भव

की दुर्लभता पर प्रभावशाली उपदेश दिया, जिससे विद्युत्गति राजा को प्रतिबोध प्राप्त हुआ और उसने राज्य-सिंहासन का परित्याग करके दीक्षा अंगीकार कर ली। उसने राज्य-सिंहासन अपने पुत्र किरणवेग को सौंप दिया। तत्पश्चात् राजा किरणवेग सुख पूर्वक जीवन यापन करने लगा, संसार के भोगों का उपभोग करने लगा। समय व्यतीत होने पर पद्मावती रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। सम्पूर्ण राज्य में पुत्र का जन्मोत्सव मनाया गया।

सर्व प्रथम उसने अपने राज्य में किसी भी जीव की हिंसा नहीं करने का आदेश दिया और अपने राज्य को प्राणी मात्र के लिए 'अभय राज्य' के रूप में घोषित किया।

दीर्घ काल के पश्चात् एक बार सुरगुरु नामक एक आचार्य का नगरी में पदार्पण हुआ। राजा एवं प्रजा सब उनको वन्दन करने के लिए उपस्थित हुए। उन्होंने आचार्य भगवन्त के श्री मुख से संसार की असारता के सम्बन्ध में तथा वैराग्यमय वचनों में वारह भावनों का स्वरूप श्रवण किया। आचार्य भगवन्त की चन्दन तुल्य शीतल एवं सुमधुर वाणी का श्रवण करके किरणवेग राजा को प्रतिबोध हो गया और फल स्वरूप उसने पुत्र को राज्य सौंपकर दीक्षा अंगीकार कर ली। उन महा मुनिवर ने कठोर तपस्या करके आगमों का अध्ययन किया। तत्पश्चात् वे मुनिवर गीतार्थ बन गये और गुरुदेव की आज्ञा प्राप्त करके वे एकाकी विचारने लगे। वे आत्म-रमणता के आनन्द में मस्त होकर सदा धर्म-ध्यान करते थे। उन्होंने धीरे धीरे आकाशगामिनी विद्या भी प्राप्त की और शाश्वत प्रतिमा के दर्शन एवं यात्रा की। वे हेमगिरि पर्वत के समीप प्रतिमा धारण करके कायोत्सर्ग में रहे थे।

कमठ का जीव कुर्कुट साँप मर कर पाँचवी नरक में गया जहाँ घोर कष्ट सह कर अनेक अन्य लघु भवों में जाकर उसी पर्वत की तलहटी में एक योजन लम्बी देह वाला साँप बना और घूमता हुआ किरणवेग मुनि के समीप आया। मुनिवर को देखते ही उसे पूर्व भव की शत्रुता का स्मरण हुआ और क्रोध के कारण वैराग्नि भड़क उठी। क्रोधावेश में उसने मुनिवर की देह पर अपने विषाक्त दन्त से अनेक प्रकार किये, परन्तु दयालु मुनिवर ने साँप के प्रति तनिक भी द्वेष-भाव नहीं रखा और साँप के प्रति दया भाव रखकर उसे अपने उपकारी मानने लगे। मुनिवर नमस्कार महामंत्र का स्मरण करते-करते स्वर्ग गामी होकर बारहवे देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न हुए। इस ओर वह साँप घोर हिंसा के पाप-मार्ग में जीवन व्यतीत करके अन्त में छठी नरक में उत्पन्न हुआ।

## पाँचवा भव

मरुभूति - बारहवें देवलोक में।

कमठ - छठी नरक में।

## छठा भव

मरुभूति - वज्रनाभ राजा।

कमठ - कुरंगक भील।

जम्बूद्वीप में महाविदेह क्षेत्र में शुभंकश नामक नगरी में राजा वज्रवीर्य का शासन था। उसकी लक्ष्मीवती नामक रानी की कुक्षि से किरणवेग विद्याधर का जीव वारहवें देवलोक का आयुष्य पूर्ण करके पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ, जिसका नाम वज्रनाभ रखा गया। राजकुमार समस्त कलाओं में दक्ष होकर सर्व-गुण-सम्पन्न हो गया।

एक वार वहाँ भगवान धर्मचर चक्रवर्ती क्षेमंकर नामक तीर्थंकर का आगमन हुआ। राजा वज्रनाभ प्रभु की देशना श्रवण करने के लिए गया। उस समय भगवान ने उसे जिनेश्वर प्रभु की वन्दना, पूजा, स्वाध्याय, ध्यान, विनय एवं सेवा का आचरण करने का उपदेश दिया। भगवान की वाणी श्रवण करके राजा वज्रनाभ को वैराग्य हो गया, जिससे उसने अपने पुत्र चक्रायुध को राज्य सौंप दिया और भगवान के पास दीक्षा अंगीकार कर ली।

समस्त शास्त्रों का अध्ययन करके वे अनेक सिद्धियाँ प्राप्त करके भगवान की आज्ञा लेकर एकाकी विहार करने लगे। विहार करते-करते क्रमशः वे सुकच्छ नामक देश में ज्वलनगिरि पर्वत की तलहटी में प्रतिमा धारण करके रहे।

इस ओर एक योजन की देह वाला साँप मर कर छठी नरक में भयंकर कष्ट सहन करके वहाँ से एकेन्द्रिय एवं विकलेन्द्रिय में अनेकभव करके मरणोपरान्त इसी पर्वत की तलहटी के एक गाँव में उसने एक भील के घर पुत्र के रूप में जन्म लिया, जिसका नाम कुरंगक रखा गया। उक्त भील-पुत्र अत्यन्त हिंसक था। एक दिन वह शिकार करता हुआ प्रतिमाधारी एवं कायोत्सर्ग ध्यान में स्थित मुनि वज्रनाभ के समीप पहुँच गया। उन्हें देख कर पूर्व भव की शत्रुता के कारण उसने उन पर तीक्ष्ण विषैले तीरों की वृष्टि करके उनका वध कर दिया। मुनिवर शुभ ध्यान में स्वर्गगामी होकर प्रैवेयक देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न हुए और कुरंगक भील अनेक भयंकर कष्ट भोग कर नाना प्रकार की व्याधियों से ग्रस्त होकर घोर वेदना के कारण रौद्रध्यान में मर कर सातवीं नरक में गया।

## सातवाँ भव

मरुभूति - त्रैवेयक देवलोक में।

कमठ - सातवी नरक में।

## आठवाँ भव

मरुभूति - कनकबाहु चक्रवर्ती।

कमठ - सिंह।

महाविदेह क्षेत्र में सुरपुर नगर में कुशलवाहु नामक राजा था, जिसकी अत्यन्त रूपवती, यौवन-सम्पन्न सुदर्शना रानी की कुक्षि से वज्रनाभ के जीव ने त्रैवेयक देवलोक में से पुत्र के रूप में जन्म लिया। पुत्र के गर्भ में आते ही रानी ने चौदह स्वप्न देखे थे। सुदर्शना की कुक्षि से उत्पन्न उस पुत्र का नाम कनकबाहु रखा गया। राजकुमार वहत्तर कलाओं में प्रवीण हो गया। राजा कुशलवाहु ने विचार किया कि मुझे भी अपने पूर्वजों के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। वह सोच कर पुत्र को राज्य सौंप कर राजा-रानी दोनों ने दीक्षा अंगीकार कर ली। कुछ समय के पश्चात् चक्रवर्ती की आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ।

आयुधशाला के रक्षक ने राजा को चक्ररत्न की उत्पत्ति का सुसमाचार देते हुए उन्हें बधाई दी तब राजा ने विधिपूर्वक चक्ररत्न की पूजा की। भगवान की कृपा से पूर्व भव में निर्मल चरित्र का पालन करने के कारण उसे चौदह रत्नों का नव-निधान प्राप्त हुआ। सहस्रों यक्षों के द्वारा रक्षित वह चक्ररत्न पूर्व दिशा में गया। राजा कनकबाहु छः खण्डों पर विजयी होकर चक्रवर्ती बना और सुख से जीवन व्यतीत करने लगा। एक वार उस नगरी में तीर्थंकर भगवान श्री भुवनभानु का पदार्पण हुआ। राजा, रानी, एवं नगर-निवासी तीर्थंकर भगवान की देशना श्रवण करने के लिए गये। देशना सुन कर कनकबाहु को जातिस्मरण ज्ञान हो गया जिससे वह संसार के प्रति उदासीन हो गया। विरक्त हो जाने के कारण पुत्र को राज्य सौंपकर उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। उत्कृष्ट तपस्या करके, समभाव से बाईस परीपह सहते हुए तप के प्रभाव से कनकबाहु चक्रवर्ती ने श्री तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन किया। वे वन में कायोत्सर्ग ध्यान में रहे। उधर क्रुरंगक भील का जीव सातवीं नरक में घोर कष्ट भोग कर पापों का प्रायश्चित्त किये बिना ही मर गया जिसके परिणाम स्वरूप उसे इतने कष्ट भोगने पड़े और आगे भी भोगने पड़ेंगे।

मरुभूति के जीव ने उसी भव में क्षमापना करके अपने पापों की क्षमा याचना की थी।

कमठ का जीव सातवीं नरक से निकलकर इसी वन में सिंह की योनि में उत्पन्न हुआ और उसने वन में भ्रमण करते-करते काउस्सग ध्यान में खड़े कनकबाहु मुनिवर को

देखा। उन्हें देखते ही उसके अन्तर में वैर का दावानल भड़क उठा और क्रोधाग्नि के कारण उसने मुनिवर को चीर कर खा लिया। उन नर-पुङ्गव, मोक्षगामी निर्मल एवं पवित्र आत्मा का उसने क्रूरता पूर्वक संहार कर दिया, परन्तु उन्होंने तो सिंह का अत्यन्त उपकार माना और शुभ ध्यान में काल कवलित होकर वे दसवें देवलोक में देव बन गये। सिंह भयंकर पाप कर्म के बंधन में बन्ध कर पाँचवीं नरक में गया।

### नौवाँ भव

मरुभूति - दसवें देवलोक में

कमठ - पाँचवीं नरक में

### दसवाँ भव

मरुभूति का जीव तेईसवे तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ बना और कमठ का जीव कमठ बना।

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में काशी देश में वाराणसी नगरी थी जहाँ राजा अश्वसेन राज्य करते थे और श्रीमती वामादेवी उनकी पटरानी थी। इस ओर कनकबाहु चक्रवर्ती का जीव दसवें देवलोक से च्यव कर श्री नेमिनाथ भगवान के निर्वाण के ८३७५० वर्ष पश्चात् चैत्र कृष्ण चतुर्थी की अर्ध रात्रि के समय श्रीमती वामादेवी को चौदह स्वप्नों को सूचित करके उनकी कुक्षि में पुत्र के रूप में आया, तब वामादेवी को अत्यन्त हर्ष हुआ। वे आनन्द विभोर हो गईं। तिर्यग्जृम्भक देव करोड़ों रत्नों, स्वर्ण एवं मणि-माणिक्यों से राजा का भण्डार भरने लगे। पुण्य की पराकाष्ठा का यह चिह्न है।

शुभ दिन, शुभ घड़ी में चौदह राजलोक में शुभ परमाणुओं का प्रादुर्भाव हुआ, चौदह राजलोक में दिव्य प्रकाश जगमगा उठा; उस समय पोप कृष्ण दशमी की मध्य रात्रि में विशाखा नक्षत्र में चन्द्रयोग आने पर भगवान श्री पार्श्वनाथ का जन्म हुआ। जन्म के समय इन्द्र का सिंहासन डोल उठा, तब उसने सात-आठ कदम जिनेश्वर के सामने जाकर शक्रस्तव के द्वारा भगवान की स्तुति की। उस समय हरिणैगमेपी देव को सुघोषा घण्टा बजाने का आदेश दिया। भगवान का जन्माभिषेक करने के लिये करोड़ों देवों के साथ आये हुए इन्द्र ने भगवान की मातुश्री श्रीमती वामादेवी को अवस्वापिनी निद्रा में सुला दिया और परमात्मा का प्रतिविम्ब उनके पास रख कर मूल देह को, अपने पाँच रूप करके कर-कमलों में ग्रहण करके वे मेरु पर्वत पर देवों के साथ जन्मोत्सव मनाने के लिये गये। तीर्थंकर भगवान में अनन्त शक्ति होती है। मेरु पर्वत पर भगवान का जन्मोत्सव मनाकर इन्द्र ने भगवान को पुनः उनकी माता के पास रख दिया और वामादेवी को अवस्वापिनी निद्रा से जाग्रत कर दिया। माता के जाग्रत होने पर सबको भगवान के जन्म की सूचना दी गई। प्रियंवदा दासी ने राजा को मंगल बधाई दी।

राजा ने अन्तःपुर में आकर दिव्य पुत्र को देखा तो वे हर्ष-विभोर हो गये। राज-दरवार लगा कर सबको धूमधाम से जन्मोत्सव मनाने का आदेश दिया। भगवान की माता ने घोर श्याम रात्रि में स्वप्न में साँप देखा था, जिसके कारण भगवान का नाम पार्श्वकुमार रखा गया। तीन ज्ञान से युक्त भगवान ने बाल्यकाल व्यतीत करके युवावस्था में पदार्पण किया। एक बार पार्श्वकुमार ने समस्त नगर-निवासियों को नगर के बाहर जाते देख कर अपने मित्रों को उसका कारण पूछा। मित्रों ने बताया कि नगर के बाहर एक तापस पंचाग्नि तप कर रहा है। लोग उसे देखने के लिए जा रहे हैं। तब करुणासागर प्रभु लोगों को समझाने के लिए उस स्थान पर गये। वहाँ उन्होंने एक तापस को अग्नि में लकड़ियाँ डालते देखा।

पार्श्वकुमार ने तापस को कहा, 'धर्म के नाम पर तुम पाप क्यों कर रहे हो? दया धर्म का मूल है। तुम तो निरन्तर छः काय की हिंसा करते हो।'

पार्श्वकुमार की बात सुनकर क्रोधित होकर कमठ बोला, - 'राजकुमार! तुम पत्तों-अश्वों को खिलाने वाले धर्म-कर्म में क्या समझोगे?'

तब पार्श्वकुमार ने कहा, 'मैं सत्य कह रहा हूँ।' यह कह कर उन्होंने अपने एक सेवक के द्वारा एक जलती हुई लकड़ी अग्नि में से बाहर निकलवायी तब उसे चीरने पर उसमें से एक अधजला नाग निकला। उन्होंने नाग को नवकार मंत्र श्रवण कराया। नवकार मंत्र का श्रवण करते-करते नाग का देहान्त हो गया। नवकार मंत्र श्रवण करने के कारण नाग धरणेन्द्र देव बना। कमठ ने अपनी प्रतिष्ठा खो दी और वह लोगों में उपहास का पात्र बना। अपनी प्रतिष्ठा घटती देख कर वह वहाँ से भाग गया और अकाम निर्जरा रूप तप करने से वह मेघमाली देव बना।

एक बार भगवान श्री पार्श्वनाथ महारानी प्रभावती के साथ उद्यान में बैठे थे। उस समय उन्होंने दीवार पर चित्रित भगवान श्री नेमिनाथ के चित्र देखे। उनमें राजीमती के त्याग का प्रसंग देखा, तब उन तीन ज्ञान के स्वामी को संवेग प्राप्त हुआ। इधर लोकान्तिक देवों ने आकर भगवान को तीर्थ स्थापित करने के लिए विनती की। पार्श्वकुमार, माता, पिता और रानी की आज्ञा लेकर वार्षिक दान देने लगे। उन्होंने एक वर्ष तक ३८८०००००० स्वर्णमुद्राओं का दान दिया और विशाला नामक शिविका में बैठ कर आश्रम के उद्यान में ३०० राजपुत्रों के साथ दीक्षा अङ्गीकार की। विहार करते हुए वे कादम्बरी नामक वन में पधारें, जहाँ सह नामक पर्वत के पास वे कायोत्सर्ग ध्यान में रहे। वहाँ महीधर नामक हाथी आया। भगवान को देख कर वह असमंजस में पड़ गया और वहीं उसे जाति-स्मरण ज्ञान हुआ। उसने अपना पूर्व भव देखा और सरोवर में से कमल लाकर उसने भगवान की पुष्प-पूजा की। उस

भूमि में निवास करने वाले देवताओं ने भगवान की नौ हाथ की मणि-माणिक की मूर्ति बनाकर वहाँ स्थापित की, प्रतिष्ठित की। तब से वह स्थान कलि-कुण्ड तीर्थ के नाम से विख्यात हुआ। इस ओर वह हाथी मर कर व्यन्तर बना और उस तीर्थ का रक्षक बना।

वहाँ से विहार करके भगवान कौस्तुभ नामक वन में कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े रहे, वहा उनके सिर पर सूर्य की तीव्र किरणें पड़ती देख कर धरणेन्द्र ने तीन दिन और तीन रात्रि तक उनके सिर पर छत्र रखा। इस कारण समीपस्थ नगरी का नाम 'अहिछत्रा' प्रसिद्ध हुआ। जब भगवान आश्रम पद उद्यान में आये तब मेघमाली देव ने शत्रुतावश प्रभु पर उपसर्ग किये, फिर भी वे तनिक भी विचलित नहीं हुए। वे ध्यान में स्थिर रहे। वहाँ प्रलयकाल सदृश भयंकर जल वृष्टि की गई। जिससे भगवान की नासिका तक पानी पहुँच गया। परमात्मा पर उपसर्ग होते जान कर धरणेन्द्र शीघ्र वहाँ आया और भगवान को अपने कंधे पर उठा कर मेघमाली को अच्छी तरह लताडा, जिससे मेघमाली लज्जित हो गया और भगवान से क्षमा याचना करते हुए उसने अपने कदाचरण की निन्दा की और वह अपने स्थान पर चला गया। तत्पश्चात् धरणेन्द्र भी अपने स्थान पर चला गया। दीक्षा के दिन से चौरासीवे दिन विशाखा नक्षत्र में चन्द्रमा का योग होने पर घातकी वृक्ष-तले अट्ठम की तपस्या युक्त देवाधिदेव श्री पार्श्वनाथ भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हुआ।



मेघमालीने प्रभु पार्श्वनाथ पर भारी उपसर्ग किए मगर प्रभु चलायमान नहीं हुए।

उस समय देवताओं ने समवसरण की रचना की। पूर्व दिशा की ओर मुहं करके भगवान ने सर्व प्रथम 'नमो तित्थस्स' कहा। महाराजा अश्वसेन एवं वामादेवी नगर-जनों के साथ भगवान की अमृतमय वाणी (देशना) श्रवण करने के लिए आये। भगवान ने देशना देते हुए बताया, 'संसार-सागर में डूवते हुए भव्य प्राणियों की रक्षा धर्म ही करता है। वह धर्म दो प्रकार का है - साधु धर्म और श्रावक धर्म। भगवान ने जब धर्म प्ररूपित किया तब अनेक आत्माओं को धर्म प्राप्त हुआ। उस अवसर पर बीस वर्ष की अवस्था वाले, अत्यन्त रूपवान और पूर्व में गणधर नाम कर्म उपार्जन करने वाले शुभ, दत्त, आर्यघोष, वशिष्ट, वम्भ, सोम, श्रीधर, वारिषेण, भद्रवश, जय एवं विजय ने प्रब्रज्या ग्रहण की। उस समय अनेक अन्य आत्माओं ने दीक्षा अंगीकार की और फिर भगवान ने उन्हें उत्पाद, विगम, ध्रुव रूप त्रिपदी प्रदान की। उस त्रिपदी के द्वारा अपनी विशुद्ध बुद्धि से गणधर नामकर्म के उदय से उसका विस्तार करके उन्होंने द्वादशांगी की रचना की।

उस समय सौधर्मेन्द्र सुगन्धित वासक्षेप से परिपूर्ण रत्नों का थाल लेकर भगवान के पास आया। भगवान ने उन दसों को गणधर पद से विभूषित किया और उन्हें समस्त द्रव्य, गुण पर्याय एवं नव के द्वारा तीर्थ की अनुज्ञा प्रदान की और उनके सिर पर वासक्षेप डाला। महारानी प्रभावती ने भी भगवान से दीक्षा अंगीकार की। दूसरे दिन महाराजा अश्वसेन ने भगवान को दस गणधरों के पूर्व भव पूछे और भगवान ने गणधरों के पूर्व भवों का वर्णन सुनाया।

भगवान ने कुछ समय तक विहार करके भव्य जीवों को उपदेश दिया और निर्वाण का समय सन्निकट जान कर वे समेतशिखर गिरि पर पधारे। वहाँ भगवान एक स्फटिक-रत्न की शिला पर चारों प्रकार के आहारों का पचवक्खण लेकर पादोपगम के द्वारा कई महिनों तक रहे और सावन शुक्ला अष्टमी के दिन विशाखा नक्षत्र में चन्द्र आने पर, पूर्व में नहीं किये गये शैलेपीकरण का आरम्भ करके एक समय में आयुष्य, नाम, गोत्र, वेदनीय कर्म भोग कर पल भर में समस्त कर्मों का क्षय करके तैंतीस मुनिवरों के साथ श्री पार्थनाथ भगवान एक सौ वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके मोक्ष में गये।

(२)

## सनत्कुमार चक्रवर्ती

हस्तिनापुर नगर में अश्वसेन राजा का शासन था। उनके सहदेवी नामक मुलक्षणी रानी थी। उसने चौदह स्वर्णों द्वारा सूचित पुत्र-रत्न को जन्म दिया। राजा ने उसका नाम **सनत्कुमार** रखा। बाल्यकाल पूर्ण करके एवं विद्याध्ययन समाप्त कर सनत्कुमार ने युवावस्था में प्रवेश किया।

सनत्कुमार का **महेन्द्रसिंह** नामक एक बाल-सखा था। ये दोनों कुमार एक वार **मकरन्द** नामक उद्यान में क्रीड़ा करने के लिए गये। क्रीड़ा के लिए पिता द्वारा उपहार स्वरूप दिये गये जलधि-कल्लोल अश्व को भी सनत्कुमार ने साथ लिया। तनिक भ्रमण करने के पश्चात् राजकुमार अश्व पर सवार हुआ कि तुरन्त वह अश्व तीव्र वेग से दौड़ने लगा। पवन वेग से दौड़ता हुआ वह अश्व गांवों, नगरों को पार करता हुआ एक जंगल में प्रविष्ट हुआ। दिन भर दौड़ने के पश्चात् वह एक जंगल के मध्य में जाकर रुका। सनत्कुमार अश्व से नीचे उतरा और तत्क्षण अश्व चक्कर खाकर गिर पड़ा और उसकी मृत्यु हो गई।

राजकुमार मित्र एवं अश्व से विलग पड़ गया, परन्तु उसका भाग्य प्रबल था जिससे जंगल में भी उसके लिये मंगल हो गया। जंगल से बाहर निकलते ही आठ विद्याधर



सनत्कुमार जैसे ही अश्व पर सवार हुआ वैसे ही विद्युत वेग से दौड़ता हुआ वह अश्व गांव, नगर को पार करता हुआ भयानक अटवी में प्रविष्ट हुआ।

कुमारियों से उसका साक्षात्कार हुआ। वे उस पर मुग्ध हो गईं। इस प्रकार वह राजकुमार एक वर्ष तक इधर-उधर भटकता रहा और उसने सुनन्दा, वन्ध्यावली, चन्द्रयशा आदि अनेक विद्याधर कुमारियों के साथ विवाह किया और उसने अनेक विद्याधरों के राज्य प्राप्त किये।

महेन्द्रसिंह ने खोज करते-करते वर्ष के अन्त में किसी एक उपवन में सन्नारियों के साथ आनन्द मनाते हुए सनत्कुमार को ढूँढ निकाला। सनत्कुमार उसे ऋद्धि-सिद्धि दिखाने के लिए वैताड्य नगरों में ले जा रहा था, परन्तु महेन्द्रसिंह ने कहा, 'मित्र! तेरे विरह में तेरे माता-पिता तड़प रहे हैं, रुदन कर रहे हैं।' सनत्कुमार तुरन्त हस्तिनापुर आया, पिता-पुत्र का मिलाप हुआ, उन्होंने परस्पर आलिंगन किया और पिता ने सनत्कुमार को राज्य सौंप कर दीक्षा अंगीकार की और आत्मकल्याण किया।

क्रमशः सनत्कुमार को चौदह महा रत्न प्राप्त हुए। चक्ररत्न का अनुसरण करके उसने भरत क्षेत्र के छः खण्डों पर विजय प्राप्त की और नैसर्प आदि नौ निधियाँ प्राप्त की।

राजाओं ने चक्रवर्ती का अभिषेक किया। नगर में वारह वर्ष तक उत्सव मनाया जाता रहा और सर्वत्र आनन्द मंगल छाया।

## (२)

एक वार सौधर्मेन्द्र अपनी सभा में बैठे थे, तब वहाँ ईशानवासी संगम देव आ पहुँचा। इन्द्र के साथ अपना कार्य पूर्ण करने के पश्चात् जब वह देव चला गया, तब अन्य देवों ने इन्द्र से पूछा, 'इस देव की इतनी अधिक कान्ति क्यों है?'

सौधर्मेन्द्र ने कहा, 'इसने पूर्व में कर्द्धमान तप किया है, इस कारण इसका ऐसा रूप है।'

पुनः देवों ने पूछा, 'इसके समान कान्तिवाला कोई अन्य पुरुष भी है?'

इन्द्र ने सनत्कुमार के रूप-सौंदर्य की प्रशंसा करते हुए कहा, 'सनत्कुमार के समान रूप अथवा कान्ति किसी अन्य देव अथवा मनुष्य में नहीं है।'

इन्द्र के ये वचन सुनकर विजय एवं वैजयन्त नामक, दो देव ब्राह्मणों का रूप धारण करके सनत्कुमार को देखने के लिये आये। उस समय सनत्कुमार स्नान करने की तैयारी कर रहे थे। उनका रूप देखकर उन्होंने सिर हिलाया और मन ही मन में कहा, इन्द्र कह रहे थे वैसा ही इनका रूप और वैसी ही इनकी कान्ति है।

सनत्कुमार ने ब्राह्मणों को कहा, 'यदि मेरा वास्तविक रूप देखना चाहो तो मुझे राज्य-सभा में देखना, क्योंकि उस समय मेरा शरीर कमनीय वस्त्रों और रत्नजटित आभूषणों से सुसज्जित होने के कारण और अधिक कान्तिमान दिखेगा।'

ब्राह्मणों ने कहा - 'अच्छा' और वे राज्यसभा में आये। उन्होंने सनत्कुमार को देखा

और अपने दिव्य ज्ञान से यह जानकर कि इसका थूँक विकृत हो चुका है, उनका मन घृणा से भर गया और देखते ही उन्होंने नाक-भौंह सिकोड़ लिये।

सनत्कुमार ने गर्व से कहा, 'आपने मुझे स्नानागार में देखा था, उसकी अपेक्षा इस समय मैं कितना सुन्दर दिखायी दे रहा हूँ?'

ब्राह्मण बोले, 'महाराज! वह रूप तो छू मन्तर हो गया, इस समय तो आप महा व्याधि-ग्रस्त प्रतीत हो रहे हैं।'

ब्राह्मणों की बात सुनकर जब सनत्कुमार ने अपनी देह पर हाथ फिराया तब उन्हें यह पता चला कि उनकी देह रोग-ग्रस्त होकर दुर्गन्धमय हो चुकी थी। देवों ने अपना वास्तविक स्वरूप बताया और कहा, 'इन्द्र द्वारा आपकी प्रशंसा करने के कारण हम आपको निहारने के लिए यहाँ आये थे, परन्तु स्नानागार में जो रूप था, वह अब नहीं है।'

राजा समझ गया, 'मेरे रूप को मेरे अहंकार ने ग्रस्त कर लिया है। मैं मूर्ख अनित्य देह में मूर्च्छित बनकर भान भूल बैठा।' उस समय उनमें वैराग्य-भावना जाग्रत हो गई और उन्होंने चिनयंधर मुनिवर के कर-कमलों से दीक्षा अङ्गीकार की।

सनत्कुमार राजर्षि की देह को सूजन, साँस, अरुचि, उदर-वेदना नेत्र-पीड़ा आदि ७ महाव्याधियों ने घेर लिया। जितना सुन्दर उनका रूप था, उतनी ही कुरूप उनकी देह बन गई। मुनिवर ने इसकी तनिक भी चिंता नहीं की। उनकी व्याधि की चिकित्सा हेतु आने वाले वैद्यों एवं देवों को वे उपचार करने की अनुमति तक प्रदान नहीं करते। वे तो समता भाव से समस्त व्याधियों को ७०० वर्ष तक सहन करते रहे। छठ के पारणे छठ करते उन तपस्वी मुनिवर को अनेक लब्धियाँ प्राप्त हुईं और वे समस्त व्याधियों को सहज भाव से सहन करते रहे।

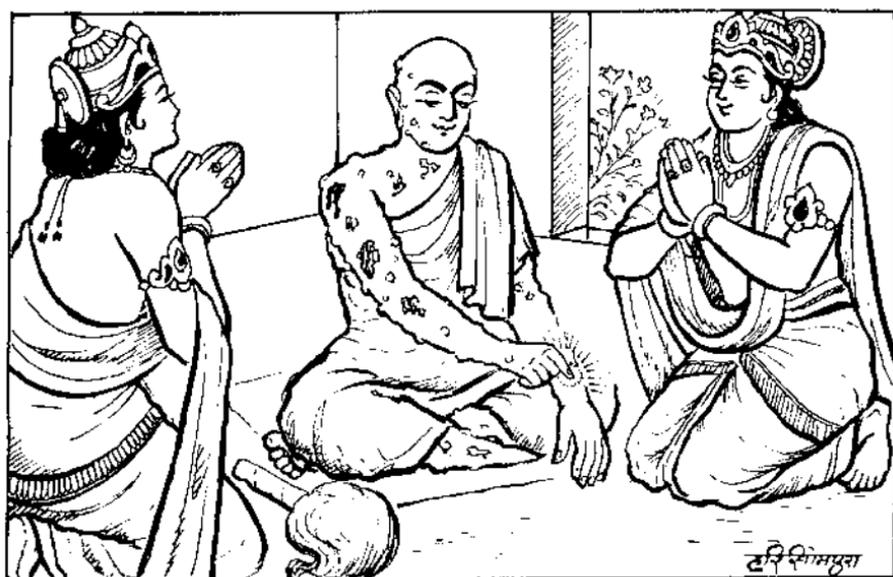
वे विजय एवं वैजयन्त देव पुनः वैद्यों का रूप धर कर सनत्कुमार राजर्षि के पास आये और निवेदन करके कहने लगे, 'हे महाभाग! यदि आप आज्ञा दें तो हम आपके रोगों का प्रतिकार करें।'

राजर्षि ने कहा, 'मैं तो भाव-रोगों के प्रतिकार के लिये प्रयत्नशील हूँ। मुझे द्रव्य-रोगों के प्रतिकार की आवश्यकता नहीं है। उनके लिए तो देखो' - ऐसा कहकर कुष्ठ वाली अंगुली को थूँक में भिगो कर देह पर घिसी तो देह का वह भाग तुरन्त कंचन-वर्णमय हो गया।

देव आश्चर्य-चकित होकर बोले, 'रोग-प्रतिकार की लब्धि एवं क्षमता होते हुए भी देह के प्रति निर्ममता रखने वाले राजर्षि आप धन्य हैं।' मुनिवर को वन्दन करके अपना स्वरूप बता कर वे देव स्व स्थान पर चले गये।

कुमार अवस्था में पचास हजार वर्ष, माण्डलिकपन में पचास हजार वर्ष, दिग्विजय में दस हजार वर्ष, चक्रवर्ती के रूप में नव्वे हजार वर्ष और व्रत में एक लाख वर्ष - इस प्रकार कुल तीन लाख वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके सनत्कुमार चक्रवर्ती विश्व पर उपकार करके तीसरे देवलोक में गये।

(त्रिपष्टि शलाका चरित्र से)



अपने धूंक से ही कुष्ठ रोग दूर करने की शक्ति होते हुए भी सनत्कुमार राजर्षि  
भाव-रोगों के प्रतिकार के लिए ही प्रयत्नशील हैं! धन्य राजर्षि!

(3)

पाप ऋद्धि अर्थात्

## ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती

(9)

‘दासौ मृगौ मरालौ चाण्डालौ त्रिदशौ ततः’ - इस श्लोक की जो वास्तविक पाद-पूरति करेगा उसे महाराजाधिराज श्री ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती अपना आधा राज्य देंगे। इस प्रकार की घोषणा पुरिमताल नगर के प्रत्येक चौराहे पर हो रही थी।

जंगल में चलता हुआ कृपक, गली में खेलने वाले बालक, भैंसे चराने वाला चरवाहा - सभी लोक उक्त पद बोलते जाते थे और अपना कार्य किये जा रहे थे।

एक दिन मैले-कुचैले वस्त्र पहना हुआ एक कृपक राज्य-सभा में आया और चक्रवर्ती के समक्ष बोल उठा ‘एषा नौ पष्टिका आयातिऽन्धं वियुक्तयोः’; चरण को ठीक मिलता हुआ देख कर राजा खड़ा होकर उसको गले लगाने के लिए तत्पर हुआ तो कृपक बोला, ‘महाराज! मैं अपने खेत में क्यारी बना रहा था और ‘दासौ मृगौ’ चरण बोल रहा था, इतने में कायोत्सर्ग ध्यानस्थ मुनि अपना कायोत्सर्ग ध्यान पूर्ण करके ‘एषा नौ पष्टिका’ चरण बोले और वही चरण मैंने आपके समक्ष निवेदन किया है।

राजाने सभा विसर्जित की और वह सीधा उद्यान में पहुँचा। वहाँ जाकर मुनि के चरण स्पर्श किये और बोला, ‘बन्धु! सम्पूर्ण सभा में महक फैलाते हुए एक बार मैंने एक पुष्पकन्दुक देखा। अत्यन्त विचार करते-करते मैं अचेत हो गया और सौधर्म देवलोक के भव सहित अपने पाँचों भवों की स्मृति मेरे मस्तिष्क में जाग्रत हो गई। कुछ समय में चेतना आने पर सोचा कि मेरा पाँच भवों का साथी बन्धु कहाँ चला गया? अब उसे मैं कहाँ खोजूँ? ऐसा विचार करते-करते आपको खोजने के लिए ‘दासौ मृगौ’ पद का प्रचार किया और आप से मिलाप हुआ। बन्धु! इस राज्य-लक्ष्मी के आप बन्धु बन कर सहभागी बनो।’

मुनिवर ने कहा, ‘राजन्! यह तेरी ऋद्धि तुझे भव-भव भटकाने वाली है। सच्ची ऋद्धि तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की है।’

महाराज! राज्य की ऋद्धि के लिए तो लोग परस्पर युद्ध करते हैं और भाग्य के बिना संसार की यह कोई ऋद्धि थोड़े ही प्राप्त होती है?

राजन्! अच्छी तरह सोच ले। तुम्हें आज जो चक्रवर्ती का पद प्राप्त हुआ है, उसके पीछे तुम्हारे द्वारा पूर्व भव में किया गया तपो-बल कारण है। जाति-स्मरण ज्ञान से

तो तुम्हें तप में स्थिर होना चाहिये, संसार की पाप-ऋद्धि में नहीं। तुम अपना पूर्व भव सुनो।

(२)

चौथे भव में साधु-वेप की निन्दा करने के फल स्वरूप काशी में भूतदत्त चाण्डाल के घर चित्र एवं संभूति नामक हम दो भाई बने। उस समय वाराणसी नगरी में शंख राजा का शासन था। उसका नमुचि नामक एक महामात्य था, जिसका राजा की पटरानी के साथ प्रेम हो गया और वे गुप्त रूप से परस्पर भोग-विलास में लीन हो गये। जब राजा को इस बात का पता लगा तब उसकी अपकीर्ति न हो उस भय से उसने गुप्त रीति से महामात्य नमुचि का वध करने का कार्य भूतदत्त चाण्डाल को सौंपा। भूतदत्त ने विचार किया कि मेरे पुत्र चतुर हैं, परन्तु चाण्डाल होने के कारण उन्हें कोई शिक्षित नहीं करता। यदि जीवित रहने की अभिलाषा से यह महामात्य उन्हें पढ़ाना स्वीकार करे तो मैं उसे बचा लूँ। यह सोच कर महामात्य नमुचि को उसने अपने मन की बात कही। इस पर उसने उन चाण्डाल पुत्रों को पढ़ाना स्वीकार किया। चाण्डाल ने उसे अपने घर के तलघर में गुप्त रूप से रखा। नमुचि ने चित्र एवं संभूति को अल्प समय में समस्त शास्त्रों के पारगामी बना दिया, परन्तु उसमें जो व्यभिचार करने का दोष था वह नहीं गया। वहाँ फिर वह चाण्डाल की पत्नी के साथ भी प्रेम में पड़ गया। कुछ समय के पश्चात् चाण्डाल को यह बात ज्ञात हो गई। वह उसका संहार करे उसने



ब्रह्मदत्त! यह तेरी राज-ऋद्धि ही तुझे भवोभव भटकाने वाली है! सच्ची ऋद्धि तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य है!

पूर्व ही नमुचि वहाँ से भाग कर हस्तिनापुर आया और सनत्कुमार चक्रवर्ती के पास महामात्य के पद पर आसीन हो गया।

एक बार ये दोनों भाई हाथों में वीणा लेकर नगर के चौक में संगीत का कार्यक्रम करने लगे। उनकी स्वर-लहरी से सम्पूर्ण नगर मुग्ध हो गया और जिस प्रकार वांसुरी की ध्वनि से मृग एकत्रित हो जाते हैं उसी प्रकार नगर के नर-नारी भी घर के कार्य छोड़ कर उनका संगीत सुनने के लिये आने लगे। लोगों के दल के दल उनके पीछे आने लगे। इससे अस्पृश्यता से भयभीत लोगों ने राजा को निवेदन किया कि, 'हे देव! इन दो चाण्डालों ने अपने संगीत से आकर्षित करके सम्पूर्ण नगर को अपवित्र कर दिया है।' इस पर राजा ने उन्हें तुरंत नगर छोड़ जाने की आज्ञा दी।

एक दिन वाराणसी में कौमुदी महोत्सव था। लोगों के समूह गीत गाते हुए निकले। एक सियार का शब्द सुनकर दूसरा सियार बोल उठता है, उसी प्रकार चित्र एवं संभूति बुर्खा ओढ़ कर नगर में प्रविष्ट हो गये और तीक्ष्ण स्वर में उन्होंने भी अपना गीत प्रारम्भ किया। उनके गीत के समक्ष समस्त गीत फीके प्रतीत हुए। लोगों के समूह उनके समक्ष एकत्रित हो गये, जिससे किसी कौतुक-प्रिय व्यक्ति के मन में यह जानने की इच्छा उत्पन्न हुई कि ये गायक कौन हैं? उसने उनका बुर्खा खींच लिया। लोगों ने देखा तो बुर्खे में से चित्र एवं संभूति निकले। क्षणभर पूर्व जिनके गीत पर लोग डोल रहे थे, वे ही लोग 'अरे, ये चाण्डाल हैं, मारो, मारो।' इन्होंने सम्पूर्ण नगर को दूषित कर दिया है।' यह कहते हुए जिसके हाथ में जो आया उसे ही लेकर लोग उन्हें पीटने लगे। इस प्रकार पागल कुत्ते की तरह पीटते-पीटते लोग उन्हें नगर के बाहर छोड़ आये।

चित्र एवं संभूति के गात्र लोगों द्वारा पिटाई करने से शिथिल हो गये, उसी प्रकार उनके मन भी शिथिल हो गये। उन्हें प्रतीत हुआ कि लोगों को हमारी कला पसन्द है, परन्तु इस देह में विद्यमान होने से त्याज्य है। लोगों की दृष्टि में हमारी देह घृणा-पात्र है, तो हम इस देह को क्यों रखें? यह सोच कर छलांग लगाने का निर्णय करके वे एक पर्वत पर चढ़े। इतने में उन्हें एक महामुनि मिले, जिन्होंने बताया कि छलांग लगाने से देह का नाश तो हो जायेगा, परन्तु कर्मों का नाश नहीं होगा। उसके लिए तो तप करके आत्म-कल्याण करो और फिर देह का त्याग करो तो उत्तम है। मुनिवर की यह बात उन्हें उचित प्रतीत हुई और वे साधु हो गये। देह की तनिक भी परवाह किये बिना कठोर तप करके उन्होंने मासक्षमण प्रारम्भ किया और वे दोनों हस्तिनापुर के समीप आ पहुँचे।

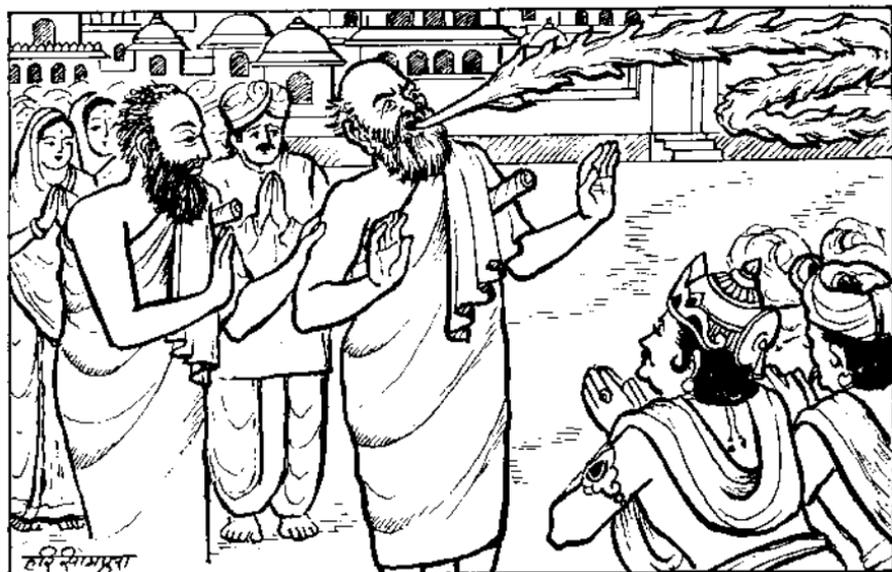
एक बार संभूति मुनि मासक्षमण के पारणे के अवसर पर हस्तिनापुर में भिक्षार्थ निकले। नमुचि ने तप से कृश एवं वेप बदला हुआ होने पर भी उन्हें तुरन्त पहचान

लिया।

‘पापाः सर्वत्र शङ्किताः’ की भावना से उसके हृदय में अनेक शंका-कुशंकाएँ होने लगी। उसको लगा कि मेरा सम्पूर्ण चरित्र ये दोनों मुनि जानते हैं और कदाचित् वे किसी को बात करें तो मेरी प्रतिष्ठा एवं इज्जत का क्या होगा? उसने सेवकों को तुरन्त आदेश दिया कि इन मुनियों की गर्दन पकड़कर इन्हें बाहर निकाल दो। सेवकों ने दोनों मुनियों की गर्दन पकड़कर तिरस्कार पूर्वक उन्हें बाहर निकाल दिया।

“अग्नि से, शीतल जल भी उष्ण हो जाता है”, उसी प्रकार संभूति मुनि इस तिरस्कार से उग्र बन गये और उनके मुँह में से ज्वाला उगलने वाली तेजोलेश्या प्रकट हुई। नगर-निवासी भयभीत हो गये। चक्रवर्ती सनत्कुमार भी आकर मुनिवर के चरणों में गिरा और निवेदन करने लगा कि, ‘हे क्षमासागर! महामुनि! आप दयालु हैं, दया रख कर क्षमा करें।’ इस बात का पता चित्र मुनि को लगा। वे भी वहाँ आये। उन्होंने विविध शास्त्र-वचनों के द्वारा संभूति मुनि को शान्त किया, परन्तु इस क्रोध का कारण देह है - यह साँचकर दोनों मुनि बन्धुओं ने आहार का परित्याग करके अनशन प्रारम्भ किया।

एक वार सनत्कुमार चक्रवर्ती की रानी सुनन्दा मुनिवर की वन्दनार्थ आई। वन्दन करते समय उसके वालों की लट का संभूति मुनि के चरण से स्पर्श हो गया। तप से कृश मुनि के हृदय में क्षोभ हुआ और उन्होंने संकल्प किया कि इस तप के फल स्वरूप



तिरस्कार से उग्र बने संभूति मुनि के मुख से तेजोलेश्या प्रगट हुई।

राजा एवं नगरवासी क्षमा-याचना करते हैं।

आगामी भव में ऐसी पत्नी प्राप्त हो तो कितना अच्छा हो? चित्र मुनि को जब इस बात का पता लगा तो उन्होंने कहा, 'मिथ्या दुष्कृत त्याग कर अपना मन ध्यान मार्ग की ओर मोड़ो।' परन्तु उनका यह समझाना व्यर्थ गया। अन्त में दोनों मुनि-बन्धु आयुः पूर्ण कर सौधर्म देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न हुए।

### (३)

हे चक्रवर्ती! मैं (चित्र का जीव) प्रथम देवलोक में से च्यव कर पुरमताल नगर में धनाढ्य सेठ का पुत्र हुआ और तू (संभूति का जीव), वहाँ से च्यव कर कांपिल्य नगर के राजा ब्रह्म की रानी चूलनी की कुक्षि से चौदह स्वप्न-सूचित कंचन वर्णी ब्रह्मदत्त नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। ब्रह्म राजा के काशी का राजा कटक, हरतिनापुर का राजा कणेरुदत्त, कोशल का राजा दीर्घ और चम्पा का राजा पुष्पचूल ये चार मित्र थे। ये पाँचों अपनी रानियों के साथ एक-एक वर्ष एक दूसरे के नगर में रहते थे। एक बार वे पाँचों मित्र कांपिल्य नगर में सानन्द जीवन यापन कर रहे थे कि इतने में अचानक ब्रह्मराजा की शूल उठने से मृत्यु हो गई। अतः चारों मित्रों ने वारी-वारी से ब्रह्मदत्त वयस्क हो जाये तब तक राज्य की सुरक्षा का उत्तरदायित्व लिया। प्रथम वर्ष में यह कार्य कोशल के राजा दीर्घ ने सम्हाला, परन्तु दीर्घ राजा राज्य-कार्यवश चूलनी के साथ अधिक परिचय हो जाने से वह उस पर आसक्त हो गया।

छोटा ब्रह्मदत्त दीर्घ एवं चूलनी की यह कुचेष्टा समझ गया। एक बार वह अन्तःपुर में कौए और कोयल को ले गया और उन्हें पीटते हुए उसने कहा, 'इस कौए और कोयल की तरह जो मनुष्य व्यभिचार का सेवन करेंगे, उन्हें मैं उचित दण्ड दूंगा।'

ब्रह्मदत्त की यह बाल-चेष्टा दीर्घ को कटु प्रतीत हुई। उसने चूलनी को कहा, 'या तो ब्रह्मदत्त नहीं, या मैं नहीं।'

चूलनी ने कहा, 'माता होकर मैं पुत्र की हत्या कैसे कर सकती हूँ?'

कामी दीर्घ बोला, 'पगली, मैं रहूँगा तो तेरे अनेक पुत्र हो जायेंगे।'

विषय-विह्वल चूलनी अन्त में मन्द पड़ गई और बोली 'लोगों में हमारी निन्दा न हो ऐसी युक्ति से हम यह कार्य पूर्ण करेंगे।'

उन दोनों ने षडयन्त्र रचकर गुप्त रीति से एक लाक्षागृह का निर्माण यह सोचकर करवाया कि विवाह के पश्चात् जब ब्रह्मदत्त इसमें सोयेगा तब स्वतः जलकर भस्म हो जायेगा किंतु यह गुप्त बात राजभक्त धनुमंत्री को ज्ञात हो गई। अतः उसने वृद्धावस्था का बहाना बना कर के दीर्घ से अनुमति प्राप्त करके एक दानशाला प्रारम्भ की और वह धर्म-कार्य में प्रवृत्त हुआ। उसने गुप्त रीति से लाक्षागृह से बाहर निकलने वाली एक गुप्त सुरंग का निर्माण कराया तथा अपने पुत्र वरधनु को ब्रह्मदत्त की रक्षार्थ समस्त बातों के उचित निर्देश देकर उसके पास रखा।

शुभ मुहूर्त में पुष्पचूल नृप की पुत्री पुष्पवती के साथ ब्रह्मदत्त का विवाह हुआ। वर-वधू को भेजने के समय धनु मंत्री द्वारा पूर्व सूचना देने के कारण पुष्पचूल नृप ने अपनी पुत्री के वजाय दासी को भेज दिया। वर-वधू को लाक्षागृह में गहरी नींद में सोये हुए जान कर राजा दीर्घ एवं चूलनी के सेवकों ने लाक्षागृह में आग लगा दी। ब्रह्मदत्त विचार करने लगा कि यह क्या हुआ? इतने में वरधनु एक पत्थर को लात के प्रहार से दूर करके सुरंग में होकर ब्रह्मदत्त के साथ बाहर निकल गया। उसने संक्षेप में दीर्घ एवं उसकी माता के पडयन्त्र की तथा अपने पिता द्वारा निर्मित सुरंग की बात वताई। तत्पश्चात् वे दोनों सिर मुण्डवा कर गुरु-शिष्य बनकर ब्राह्मण वेप धारण कर वहाँ से भाग गये। दीर्घ ने ब्रह्मदत्त को वन्दी बनाने के लिए अनेक सैनिक दौड़ाये, पर वह सफल नहीं हो सका। देश-देश में भ्रमण करते हुए ब्रह्मदत्त ने वन्धुमती, श्रीकान्ता, खण्डा, विशाखा, रत्नावली, कुरुमती आदि अनेक राजकुमारियों से विवाह किये और अनेक विद्याएँ प्राप्त की।

घूमता-घूमता ब्रह्मदत्त अपने पिता के मित्र वाराणसी के राजा कटक के राज्य में पहुँचा। जब दीर्घ को ब्रह्मदत्त के कटक में होने का समाचार मिला तो उसने कटक के पास द्रुत भेज कर ब्रह्मदत्त को उसे सौंप देने की माँग की, परन्तु कटक ने उसकी माँग का तिरस्कार कर दिया। इस कारण ब्रह्मदत्त एवं दीर्घ में घमासान युद्ध हुआ। इस युद्ध के समाचार से चूलनी लज्जित हो गई। मन ही मन विचार करने लगी कि संसार में अधम से अधम मनुष्य भी न कर सके ऐसा कार्य करके मैंने स्वयं को तथा अपने पितृ कुल को कलंकित किया है, लज्जित किया है। इससे चूलनी को वैराग्य हो गया और उसने दीक्षा अंगीकार कर ली। घोर कुर्म के क्षय के लिए उसने कठोर तप किया, और अन्त में उसने मुक्ति प्राप्त की।

युद्ध में सैनिकों के युद्ध के पश्चात् दीर्घ स्वयं सामने आया, परन्तु पुण्य की प्रबलता से ब्रह्मदत्त के हाथ में तुरन्त दैवी चक्र आ गया। ब्रह्मदत्त ने चक्र दीर्घ की ओर छोड़ा तो वह तुरन्त धराशयी हो गया और ब्रह्मदत्त का जय जयकार गूँज उठा।

अनेक वर्षों के पश्चात् ब्रह्मदत्त ने पिता के नगर में प्रवेश किया। सच्चे उत्तराधिकारी को प्राप्त करके प्रजा गद्गद् हो गई और उसका सत्कार किया। तत्पश्चात् ब्रह्मदत्त ने चौदह रत्न प्राप्त किये, छः खण्डों पर विजय प्राप्त की और वह समस्त राजाओं का राजेश्वर बन कर चक्रवर्ती बना। उसने चौसठ हजार राजकुमारियों के साथ विवाह किया, जिनमें से कुरुमती को उसने महारानी (पटरानी) बनाया।

‘हे चक्रवर्ती! इस भव में तू चक्रवर्ती है और मैं श्रेष्ठि पुत्र हूँ। हम दोनों को जाति-स्मरण ज्ञान हुआ। जाति-स्मरण ज्ञान होने पर मैंने ऋद्धि-सिद्धि का परित्याग करके दीक्षा अङ्गीकार की और विहार करता हुआ मैं तेरे नगर में आया हूँ और मैंने तेरे श्लाोक की पूर्ति की। वन्धु! ये ऋद्धि-सिद्धि सब पूर्व भव के तप का प्रभाव है। अतः

तू तप-मार्ग की ओर अग्रसर हो।'

मुनिवर ने चक्रवर्ती को धर्म-मार्ग की ओर अग्रसर करने का प्रयास किया परन्तु सातवीं नरक में जाने वाले ब्रह्मदत्त में भाई के प्रति प्रेम के अतिरिक्त अन्य धर्म-प्रेम जाग्रत नहीं हो सका।

(४)

एक वार ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती पर नागदेव प्रसन्न हुए और कहने लगे, 'तू जो माँगेगा, वह मैं तुझे दूँगा।' चक्रवर्ती ने कहा, 'मुझे कुछ नहीं चाहिये, मुझे तो केवल इतना चाहिये कि मेरे राज्य में व्यभिचार, चोरी तथा अकाल मृत्यु का नाश हो जाय।'

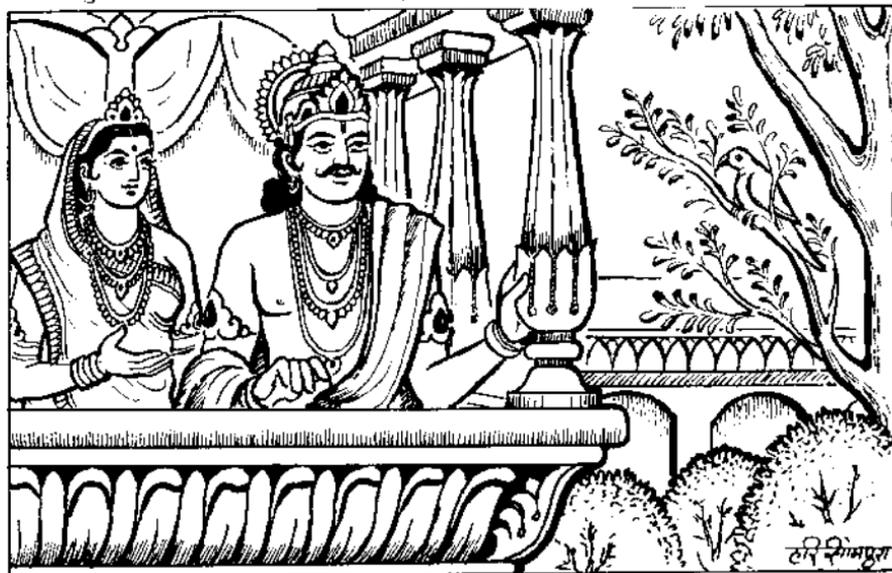
नागदेव ने कहा, 'यह तो परोपकारार्थ माँग है। तू मुझसे कोई व्यक्तिगत माँग कर।' नागदेव के अत्यन्त आग्रह करने पर ब्रह्मदत्त ने पशु-पक्षियों की भाषा सुनने और समझ सकने की माँग की। नागदेव ने यह वरदान किसी को नहीं कहने की शर्त पर उसे दे दिया और बताया कि यदि तू किसी को यह बात बता देगा तो तेरी मृत्यु हो जायेगी। तत्पश्चात् नागदेव अदृश्य हो गये।

एक वार ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती अपनी रानी के साथ आनन्द-मान थे, उस समय उनकी दृष्टि गृह-गोधा के युगल पर पड़ी। मादा गृहगोधा नरगृहगोधा को कह रही थी कि राजा का अंग-विलेपन में से थोड़ा अंग-विलेपन मुझे ला दो।

नर गृहगोधा ने कहा, 'यह कोई सामान्य बात नहीं है। उसे लाने में प्राण जाने का भय है।'

मादा गृहगोधा ने कहा, 'कुछ भी हो, परन्तु मुझे उसकी आवश्यकता है।'

यह सुन कर राजा को हँसी आ गई। रानी ने राजा को अचानक हँसने का कारण



नाथ! आपके हँसने का कारण क्या है? राजा बोला,  
मेरे हँसने का कारण बताने से मेरी मृत्यु हो सकती है!

पूछा, 'नाथ! आपके हँसने का कारण क्या है?'

राजा बोला, 'मेरे हँसने का कारण बताने से मेरी मृत्यु हो सकती है।'

रानी बोली, 'भले ही हो, परन्तु मुझे अपने हँसने का कारण तो बताना ही पड़ेगा। यदि मृत्यु हो जायेगी तो हम साथ-साथ मरेंगे और आगामी भव में साथ-साथ जन्म धारण करेंगे।'

राजा ने कहा, 'मूर्खता मत कर, कहने में कोई सार नहीं है।'

रानी ने हठ पकड़ ली और वह मरने के लिये तत्पर हो गई। रानी के वशीभूत हुए ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने नगर के बाहर चिता रचवाई और वे रानी के साथ वहाँ आये। नगर-निवासी एवं मंत्री गण अश्रुपूर्ण नेत्रों से यह दृश्य देख रहे थे। इस अन्तराल में चक्रवर्ती की कुलदेवी ने गेंडे-गेंडी का रूप बनाया और गेंडी ने गेंडे को कहा, 'इस सामने पड़े जौ के ढेर में से एक पूला मुझे ला दो।'

गेंडा बोला, 'चक्रवर्ती के अश्व के लिए यह पूला है। उसे लाने जाने में मेरी मृत्यु हो सकती है।'

गेंडी ने कहा, 'यदि वह आप नहीं लाओगे तो मैं मर जाऊँगी।'

गेंडा बोला, 'यदि तू कल मरती हो तो आज मर जा। यदि तू मर जायेगी तो मैं दूसरी ले आऊँगा। मैं कोई ब्रह्मदत्त जैसा मूर्ख नहीं हूँ कि उसके चौसठ हजार रानियां होते हुए भी एक रानी की हठ के लिए वह मरने के लिए तत्पर हुआ है।'

गेंडा-गेंडी की भाषा समझ कर चक्रवर्ती सचेत हो गया और वह अपने महल में लौट आया। प्रजा हर्षित होकर कहने लगी कि स्त्री के हठ के वशीभूत होने वाले पुरुष का नाश होता है।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने सात सौ वर्ष ऐश्वर्य पूर्ण व्यतीत किये। एक दिन उसके एक वृद्ध ब्राह्मण मित्र ने परिवार सहित भोजन की याचना की। राजा ने प्रारम्भ में तो मना किया परन्तु अंत में अत्यन्त आग्रह के कारण उसकी याचना स्वीकार की। चक्रवर्ती के आहार ने उस ब्राह्मण में उन्माद जाग्रत कर दिया। रात्रि में वह अपना विवेक खो बैठा और पत्नी, पुत्र-वधू और पुत्री का भी विचार किये बिना सबके प्रति भोगासक्त हुआ। चक्रवर्ती के अन्न का प्रभाव समाप्त होने पर उसका विवेक जाग्रत हुआ और अपने अविवेक के लिए वह अत्यन्त लज्जित हुआ। तत्पश्चात् अपनी भूल का विचार नहीं करने वाले ब्राह्मण के मन में चक्रवर्ती के प्रति वैर उत्पन्न हुआ और लक्ष्य साधने में दक्ष एक ग्वाले को वश में करके उसने दो कंकड़ों से ब्रह्मदत्त की आँखें फुड़वा दी।

महान् शूरवीर एवं सहस्रों मनुष्यों को थका देने वाले ब्रह्मदत्त के नेत्र एक ग्वाले

के दो कंकड़ों से चले गये। चक्रवर्ती के अंगरक्षकों ने ग्वाले को बन्दी बना लिया तब उसने इस कार्य के वास्तविक अपराधी ब्राह्मण को बताया। अन्धे ब्रह्मदत्त ने ब्राह्मण का नाश किया। इतना ही नहीं, प्रति दिन ब्राह्मणों के नेत्रों से भरा थाल अपने समक्ष प्रस्तुत करने का मंत्रियों को आदेश दिया। विचक्षण एवं दयालु मंत्रीगण राजा के समक्ष नित्य नेत्रों के समान श्लेषात्मक फलों का थाल रखते थे। राजा उन्हें ब्राह्मणों के नेत्र समझकर दाँत पीस कर हाथों से मसलता। इस प्रकार सोलह वर्षों तक मन से घोर पाप करता हुआ धर्महीन ब्रह्मदत्त मर कर सातवीं नरक में गया। वह चक्रवर्ती अठाईस वर्ष कौमार्य में, छप्पन वर्ष माण्डलिकता में, सोलह वर्ष भरतक्षेत्र को सिद्ध करने में और छः सौ वर्ष चक्रवर्ती के रूप में रहा- इस प्रकार कुल सातसौ वर्ष का आयुष्य भोगकर सातवीं नरक में गया।

चौदह रत्न, चौसठ हजार रानिया और सोल हजार यक्ष न तो उसे नरक जाने से बचा सके और न उसकी वेदना को घटा सके। अन्त में दोनों बन्धुओं में से एक बन्धु धर्म-चक्रवर्ती बन कर मुक्ति में गया, दूसरा बन्धु छः खण्ड रूप पाप-ऋद्धि प्राप्त करके चक्रवर्ती बन कर सातवीं नरक में गया। इस प्रकार सदा के लिए उनके बन्धुत्व का अन्त हुआ।

(त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, उपदेशमाला व उत्तराध्ययनवृत्ति से)

(४)

## सुनन्दा एवं रूपसेन

(९)

**पृथ्वीभूषण** नामक नगर था जहाँ **कनकध्वज** राजा राज्य करता था। उसके यश में वृद्धि करने वाली और अपने नाम को सार्थक करने वाली उसकी **यशोमती** नामक रानी थी और **गुणचन्द्र** एवं **कीर्तिचन्द्र** नामक दो राजकुमार थे तथा गुणों की खान **सुनन्दा** नामक एक राजकुमारी थी।

सुनन्दा केवल बारह वर्ष की थी। वह न तो पूर्णरूपेण समझदार थी और न ही सर्वथा नादान। एक दिन वह राजमहल के झरोखे में से नगर की शोभा निहार रही थी। उस समय दूर-दूर के मन्दिरों में होने वाली आरतियों की ध्वनि तथा वन में से घर लौटती हुई गायों के गले में बँधी घंटियों की ध्वनि का सुमधुर संगीत चारों ओर व्याप्त था। गगन में तनिक तनिक अन्तर पर तारों के दीप प्रज्वलित थे। प्रकृति सौम्य एवं आह्लादक थी। उस समय सुनन्दा की दृष्टि एक घर में पड़ी और वह तुरन्त स्थिर हो गई।

‘नाथ! मेरा कोई अपराध नहीं है, व्यर्थ आप मुझे दण्ड न दें। मैं कुलीन एवं सुसंस्कारी नारी हूँ। मैंने कोई अधम कार्य नहीं किया’ परन्तु डण्डे से पीटने वाला युवक तनिक भी ध्यान नहीं दे रहा था। उसे उसकी अनुनय-विनय सुनने का भी अवकाश नहीं था। वह युवक उस स्त्री पर लात, घूँसा, डण्डे से प्रहार किये जा रहा था। वह स्त्री उसके चरणों में गिर कर कह रही थी, ‘मेरी भूल नहीं है, आप जाँच करो, मैं निर्दोष हूँ।’

सुनन्दा अपनी सखियों को बुला लाई और स्त्री के दोषों की कल्पना कर के पीटते हुए युवक को वता कर कहने लगी, ‘स्त्री कितनी पराधीन है? संसार में क्या सुख है/ दिन भर परिश्रम करके भी सास, ससुर एवं पति से दव कर रहना। स्त्री घर का दीपक है, घर की लक्ष्मी है, सौभाग्य का स्थान है; उसका पुरुष को कदाचित् ही ध्यान होता है। वहन! मेरा विचार तो शिकार, चोरी, मदिरा-पान आदि बड़े बड़े पाप करने वाले पुरुषों के अधीन वन कर जीवन नष्ट करने का नहीं है। मैं विवाह नहीं करूँगी। तू माता को कहना ताकि वह भूल से भी कहीं मेरा विवाह न कर डाले।’

सखी बोली, ‘वहन! अभी तू छोटी है। पत्नी के लिए पति क्या है, यह अभी तू नहीं समझेगी। स्त्री का सौभाग्य, प्राण और सर्वस्व उसका स्वामी (पति) है, उसे तू आज कैसे समझेगी?’

‘मुझे कुछ नहीं समझना। तू मेरी माता को कह देना कि सुनन्दा विवाह नहीं करेगी, अतः वह किसी की मांग स्वीकार न करे।’ सुनन्दा ने पुरुषों के प्रति तिरस्कार एवं

घृणा प्रदर्शित करते हुए दृढ़ता से कहा।

सखी ने राजमाता को बता दिया कि, 'सुनन्दा का विचार विवाह करने का नहीं है, परन्तु आप तनिक भी व्याकुल न हों। वह अभी छोटी है, अतः ऐसा कहती है। वयस्क होने पर सब ठीक होगा।

राजमाता मुस्करा दी और 'अच्छा' कह कर बात समाप्त कर दी।

## (२)

समय व्यतीत होता गया। सुनन्दा पन्द्रह-सोलह वर्ष की हो गई। देह में स्फूर्ति, चंचलता एवं रूपातिरेक के साथ उसके अंग-प्रत्यंगों में परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होने लगा।

वसन्त ऋतु का समय था। सुनन्दा राजप्रासाद के झरोखे में खड़ी थी। वहीं से उसकी दृष्टि सामने स्थित एक सुन्दर भवन पर पड़ी। भवन के गवाक्षों (खिड़कियों) को पुष्प मालाओं से सजाया गया था। सुगन्धित धूप से भवन महक रहा था और भवन के अन्दर एक सुन्दर पलंग पर बैठे हुए दम्पति दोगुन्दक देव तुल्य आनन्द में मग्न थे। उनकी पाँचों इन्द्रियों को आनन्दित करने वाली सारी साधन-सामग्री उस भवन में उपलब्ध थी। दास-दासी सेवा में उपस्थित थे। संगीत की मधुर स्वर-लहरी उनके कान एवं हृदय को आनन्दमय बना रही थी। खिलखिलाहट एवं हास्य से उनका आनन्द प्रकट हो रहा था।

सुनन्दा के अन्तर में अवर्णनीय इन झनाहट उत्पन्न हुई। जड़ी गई पुतली के समान वह एकदम स्थिर हो गई और एकाग्रता से निहारने लगी। उसका रोम-रोम खड़ा हो गया और उसके मन में आभास होने लगा कि, 'यदि ऐसा सुख प्राप्त हो तो कितना अच्छा हो?'

'क्यों वहन! क्या ऐसा सुख तुझे प्रिय है?' यह कह कर सखीने उसे पुकारा तब वह चौंक गई और सखी को समक्ष देखकर वह बोली 'मेरा ऐसा भाग्य कहाँ कि मुझे ऐसा सुख प्राप्त हो'

'ऐसा मत कह; तू राजकुमारी है, तुझे इससे भी उत्तम वैभव और सुख प्राप्त होगा।'

'यह किसने जाना है?' सुनन्दा निश्वास छोड़ते हुए बोली।

सखी ने कहा, 'क्या मैं राजमाता को बात करूँ कि सुनन्दा विवाह करने की इच्छुक है?'

'नहीं, अभी नहीं, क्योंकि आज तक विवाह नहीं करने का आग्रह था, अतः उनके मन में अनेक तर्क-वितर्क उठेंगे, युक्ति से सब बतायेंगे।'

'काम-विकार तो अग्नि है। अग्नि में ईंधन पड़ते ही वह भड़क उठती है। अतः यह देख कर जी न जला, नीचे चल।' कह कर सुनन्दा का हाथ खींच कर सखी उसे

नीचे ले गई।

वाजार की ओर खुलने वाली खिड़की पर सुनन्दा और उसकी सखी बैठी है। इतने में वसुदत्त सेठ का पुत्र रूपसेन वहाँ होकर निकला और पान वाले पनवाड़ी की दुकान पर जा रुका। सुनन्दा ने पल भर उसे नख-शिख निहारा और अपने देह में झन झनाहट का अनुभव किया। उसने सखी को कहा, 'सखी! कैसा सुन्दर रूपवान युवक है? उसके नेत्र कैसे झुके हुए हैं? उसकी भुजाएँ कैसी लम्बी और देह कैसी प्रमाणयुक्त एवं कमनीय है?'

'सुनन्दा! पुरुषजाति क्रूर है। 'क्या तू यह सब भूल गई?' यह कहती हुई सखी ने सुनन्दा को पूर्व का पुरुष जाति के तिरस्कार के प्रसंग का स्मरण कराया। सुनन्दा ने कहा, 'सखी! तू समझदार होकर जले को और न जला।'

'तो क्या करूँ?'

'सामने खड़े रूपसेन को मेरा एक सन्देश दे आ। यदि वह चतुर होगा तो समझ जायेगा और चतुर नहीं होगा तो ऐसे अचतुर का संग करने से क्या लाभ?'

'ला, दे आती हूँ', कहती हुई सखी ने तत्परता दिखलाई।

सुनन्दा ने कागज लिया और लिखा कि-

'निरर्थकं जन्म गतं नलिन्याः यया न दृष्टं तुहिनांशुविष्वम्।'

(जिसने चन्द्रमा नहीं देखा उस कमलिनी का जन्म निरर्थक है।)

सखी ने गुप्त रूपसे वह पत्र रूपसेन को दे दिया।

चतुर रूपसेन सब समझ गया और उसी पंक्ति के नीचे उसने लिखा कि -

'उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव दृष्टा विनिद्रा नलिनी न येन'

(जिसने विकसित होती हुई नलिनी को नहीं देखा उस चन्द्रमा की उत्पत्ति भी निष्फल है।)

सखी ने पत्र सुनन्दा को पहुँचाया। पढ़ कर वह अत्यंत प्रसन्न हुई और बोली, 'जैसा रूपवान है वैसा ही चतुर है।'

तत्पश्चात् रूपसेन वहाँ प्रतिदिन आने लगा और परस्पर दृष्टि मिलन होने लगा। सोते, बैठते, खाते रूपसेन सुनन्दा के चित्त में से हटता नहीं और रूपसेन के चित्त में से सुनन्दा हटती नहीं।

### (३)

लोगों के समूह और दल के दल नगर से बाहर जाने लगे। छोटे-बड़े सभी अपने-अपने अनुरूप संग खोज कर बाहर निकले घर-घर में ताले लग गये। सम्पूर्ण नगर सुनसान हो गया।

राजमाता यशोमती जब सुनन्दा को लेने के लिए आई तो उसने सिर पर लेप किये हुए व वेदना से तड़पती हुई पुत्री को देखकर कहा, 'पुत्री! अचानक यह क्या हो गया?'

'माता! अभी चार घड़ी पूर्व सिर में असह्य वेदना उठी है। किस कारण वेदना हो रही है, यह समझ में नहीं आ रहा।' दुःखमय मन्द स्वर में सुनन्दा ने कहा।

'पुत्री! चाहे सब लोग जायें, मैं कौमुदी महोत्सव में नहीं जाऊँगी।'

'नहीं, माँ! मेरे कारण समस्त प्रजा के रंग में भंग न करें। ऐसा तो मुझे अनेक बार हो जाता है, परन्तु फिर वेदना शान्त हो जाती है। तुम जाओ, ठीक होने पर मैं अपनी दोनों सखियों के साथ वहाँ आ जाऊँगी। तुम चिन्ता मत करना।' यह कहकर सुनन्दा ने अपने सेवकों के परिवार को भी माता के साथ कौमुदी महोत्सव में भेज दिया।

राजमाता के चले जाने पर सुनन्दा को शान्ति मिली। उसे लगा दीर्घ काल से मैं जिसकी प्रतीक्षा करती थी, जिसका स्मरण करती थी, वह प्रियतम रूपसेन आज मुझे शान्ति से मिलेगा और हम परस्पर विरह-वेदना शमन करेंगे। उसने अपनी शय्या के निकट की खिड़की जो पीछे की ओर थी, वहाँ रस्सी की सीढ़ी लगा रखी थी और रूपसेन को उसे हिलाने की सूचना सखी के द्वारा पहुँचा दी थी। अतः वह और उसकी सखियाँ बार बार उस ओर जाती और लौट आती थीं।

### (४)

'हाय! जुए में सब कुछ हार गया। मेरे पास फूटी कौड़ी भी नहीं बची और ऋण तो अभी तक हजारों रूपयों का ऊपर है। क्या करूँ? चलो, आज नगर गुना है अतः किसी धनाढ्य व्यक्ति की दूकान अथवा घर का ताला तोड़ूँ और जो कुछ प्राप्त हो जाये उससे पुनः कल दाव लगाऊँ।' यह सोचते हुए नगर की गलियों में घूमते महालव नामक जुआरी ने राजमहल की खिड़की पर टंगी हुई सीढ़ी देखी और 'चोर मे मोर' कहावत के अनुसार उसे हिलाई तो तुरन्त दो दासीयाँ भागी हुई आई और रूपसेन का यह कह कर स्वागत किया कि 'रूपसेन आपका स्वागत है।' महालव ने सम्मति सूचक 'हाँ' कहकर संक्षेप में बात समाप्त करके सीढ़ी पर चढ़ना प्रारम्भ किया।

इस ओर राजमाता ने अपनी सखियों को सुनन्दा का पता लगाने के लिए और पूजा के कुछ उपकरण लेने के लिए भेजा। उन्हें राज प्रासाद में प्रविष्ट होते हुए सुनन्दा ने दूर से देख लिया, अतः हृदय धड़कने लगा कि 'रंग में यह कैसा भंग' हो रहा है? परन्तु प्रत्युत्पन्न मति के अनुसार उसने समस्त दीप बुझवा दिये और सखी के द्वारा उन आने वाली स्त्रियों को कहलवा दिया कि कुमारी को दीपकों की ज्योति सहन नहीं होने से दीपक बुझवा दिये गये हैं और अब उन्हें तनिक नौद लगी है अतः कोई बोलना मत।' आगन्तुक स्त्रियाँ राजमाता का पूजा का सामान लेकर, लौटते समय आने का

कहकर राज प्रासाद के दूसरे भाग में राजमाता के भवन की ओर मुड़ गई।

महालय खिड़की पर आया, अतः एक सखी उसका हाथ पकड़ कर उसे सुनन्दा के पलंग के समीप ले गई और उसे कहा, 'रूपसेन श्रेष्ठि! आप तनिक भी बोलना मत।'

महालय मौन रहा। सुनन्दा का स्पर्श होते ही घोर कामातुर जुआरी ने सुनन्दा के साथ क्रीडा की और उसके वहाँ पड़े हुए आभूषण हस्तगत किये। इतने में सामने दीपक का प्रकाश दिखाई दिया।

सखी दौड़ती हुई आई और कहने लगी, 'प्रियतम को अब विदा करो।'

सुनन्दा बोली, 'प्रियतम! हमारा दुर्भाग्य है। दीर्घ काल के पश्चात् हमारा संयोग हुआ फिर भी हम कोई वार्तालाप कर नहीं सके। अभी तो आप जाइये, जब हम पुनः मिलेंगे तब सब करेंगे।'

जुआरी प्रसन्न हो गया और यह सोचता हुआ कि शकुन अच्छे हुए राजकुमारी मिली और धन भी मिला, सीढ़ी से नीचे उतर गया।

माता की सखियाँ आईं। सुनन्दा ने मन्द स्वर में कहा, 'माताजी को कहना कि अब कुमारी के सिर की वेदना कम है, चिन्ता न करें।'

## (५)

कौमुदी महोत्सव की प्रतीक्षा करता रूपसेन भी माता-पिता को यह कह कर 'मेरी तवियत ठीक नहीं है' घर पर रहा।

रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत हो गया। नगर में अब कोई नहीं है, यह जानने के पश्चात् सुनन्दा की रटन लगाता हुआ, भोग-सामग्री लेकर घर पर ताला लगा कर निकल पड़ा। एक दूसरे के आलिंगन के लिए तरसते आज हम परस्पर मिलेंगे, अनेक प्रेम-गोष्ठी करेंगे और विषय-सुख का आनन्द लेंगे' आदि बातें सोचता हुआ रूपसेन मार्ग में चला जा रहा था कि एक विना किसी आधार के खड़ी हुई दीवार गिर पड़ी और उसके नीचे दब कर वह मर गया। मृत्यु के समय सुनन्दा के प्रति राग के अतिरेक के कारण ऋतु-स्नाता सुनन्दा की कुक्षि में महालय जुआरी द्वारा किये गये संसर्ग से गर्भ में रूपसेन उत्पन्न हुआ।

इस कारण ही शास्त्रकारों को कहना पड़ा है कि विष एवं विषयों में सचमुच अत्यधिक अन्तर है। विष खाने से मृत्यु होती है परन्तु विषयों के तो स्मरण मात्र से ही मृत्यु हो जाती है।

माता के सहचरियों के जाने के पश्चात् सुनन्दा ने आभूषण खोजे तो अनेक आभूषण नहीं मिले, परन्तु उसने राग-दशा से विचार किया कि टूटे हुए आभूषण ठीक कराने के लिए प्रियतम ले गये होंगे, जिन्हें ठीक कराने के पश्चात् पुनः भेज देंगे। परन्तु

वे सब आभूषण क्यों नहीं ले गये? क्या करते? उस समय कहाँ शान्ति थी?

कौमुदी महोत्सव सम्पन्न होने पर नगर-जन लौट आये। रूपसेन के पिता वसुदत्त, और उसके भाई धर्मदत्त, देवदत्त और जयसेन आदि परिवार भी लौट आया। घर पर ताला लगा था। तनिक जाँच-पड़ताल कराने के पश्चात् घर खुलवाया और चारों ओर रूपसेन की खोज करवाई, परन्तु उसका कोई पता नहीं लगा। राजा कनकध्वज ने स्थान-स्थान पर सैनिक भेजे; कुँए, तालाब, वावड़ी, जंगल, पर्वत की खाइयाँ, उपवन, चोरों के अड्डे - इस प्रकार जहाँ जहाँ सन्देह हुआ, वहाँ वहाँ सर्वत्र जाँच करवाई, परन्तु रूपसेन का कोई पता नहीं लगा।

यह बात सुनन्दा के कानों में भी पहुँची। उसने भी गुप्त रिति से रूपसेन की अत्यन्त खोज करवाई और मान लिया कि आभूषण ले जाते समय उनका चोरों ने अपहरण कर लिया होगा अथवा उनका वध कर दिया होगा।

एक माह व्यतीत होने पर सुनन्दा का स्वर भारी हो गया। सर्दी, देह टूटना, शिथिलता आदि गर्भ के लक्षण सुनन्दा को प्रतीत होने लगे। चतुर सखी ने क्षार आदि औषध से गर्भपात करा कर राजकुमारी की लाज बचाली। गर्भपात होने पर रूपसेन का जीव मर कर साँप हुआ।

### (६) रूपसेन भव तीसरा-चौथा-पाँचवा, छट्टा

सखी के द्वारा सुनन्दा ने राजमाता को विवाह के विषय में सूचित किया तब राजा कनकध्वज ने क्षिति-प्रतिष्ठित नगर के राजा के साथ सुनन्दा का विवाह किया और उत्तम दहेज लेकर वह क्षिति-प्रतिष्ठित नगर में गई।

साँप बना रूपसेन का जीव धूमता-धूमता सुनन्दा के राजप्रासाद में प्रविष्ट हुआ और उसे देखते ही मोह-वश उसके समक्ष फन उठा कर डोलने लगा। सुनन्दा चीख मार कर भागने लगी, परन्तु साँप ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। अतः उसके पति ने साँप का संहार करवा दिया।

वसन्त ऋतु का समय था। सुनन्दा एवं उसका पति उद्यान में बैठे थे। संगीत की स्वर लहरियाँ बल रही थी। उस समय रूपसेन का जीव जो कौआ बन गया था, वह सुनन्दा को देख कर 'काँव-काँव' करने लगा। राजा क्रोधित हुआ और रंग में भंग करते कौए को मार दिया।

एक बार सुनन्दा एवं उसके पति प्रीष्ण ऋतु में वरगद के वृक्ष के तले बैठे थे। भूमि पर जल छिड़का हुआ था। वहाँ एक हंस आया और सुनन्दा के सामने देख कर हर्ष से मधुर ध्वनि करने लगा। राजा-रानी उसे बराबर निहार रहे थे। इतने में एक कौआ राजा पर चोंच मारने लगा। जिससे राजा को क्रोध आया और उसने तीर छोड़ दिया।

वह तीर सीधे कौए को न लग कर विचारे रूपसेन के जीव उस हंस के लगा, जिससे तत्काल उसकी मृत्यु हो गई और वह एक जंगल में हिरन के रूप में उत्पन्न हुआ।

एक घोर वन में सुनन्दा एवं राजा के समक्ष कुछ संगीतज्ञ सुन्दर गीत गा रहे थे। वन के अनेक पशु एकत्रित हुए और सभी संगीत में तन्मय हो गये। राजा ने संगीत रुकवा दिया जिससे तत्कास सभी पशु भागने लगे, परन्तु एक युवा हिरन तनिक भी नहीं हटा। राजा को हिरन बड़ा मुन्दर लगा। उसने उसका वध कर दिया और राज प्रासाद में भेज दिया। रसोइये ने उसका संस्कार करके उसका माँस पकाया और राजा-रानी दोनों ने साथ बैठ कर उसका भक्षण किया और प्रशंसा करते रहे कि हिरन का माँस तो अनेक बार खाया है, परन्तु ऐसा स्वाद कभी नहीं आया।

### (७)

उफ! 'विना खाये, विना भोगे भी पूर्व भव के कर्मों से संसार में जीव उफ! कितने अपार कष्ट भोगते हैं। इस हिरन के जीव ने रूपसेन के भव में विषय-सुख का उपभोग नहीं किया, फिर भी यह पाँच भवों तक कितने कष्ट भोग रहा है? जिस स्त्री के लिए यह लालसा रखता था, वह स्त्री तो अत्यन्त हर्ष के साथ उसका माँस खा रही है' यह बात - वहाँ होकर गुजरने वाले दो मुनियों में से एक ज्ञानी मुनि ने सिर हिलाते हुए अपने साथी मुनि को कही।

राजा-रानी को मुनियों की पारस्परिक बात में सन्देह हुआ और राजा ने तुरन्त खड़े होकर मुनि को कहा, 'महाराज! आपने हमारे समक्ष सिर हिलाया उसका कारण क्या?'

'कुछ नहीं, संसार की विचित्रता देखकर हमने सिर हिलाया है' मुनि ने गम्भीर होकर कहा।

'हम माँस खा रहे हैं यह देखकर घृणा से तो आपने सिर नहीं हिलाया न?' राजा ने पूछा।

'राजन्! मरे सिर हिलाने का कारण वह है कि विषय-कपाय के वशीभूत होकर जीव केवल चिन्तन करने मात्र से, पाप के दुर्ध्यान से संसार में निगोद तुल्य अनेक भव करके अत्यन्त दुःख प्राप्त करते हैं।'

'क्या आपको यहाँ ऐसा कुछ प्रतीत हुआ?' राजा ने बात जानने की इच्छा से कहा।

'राजन्! संसार में भटकते हुए जीव सर्वत्र विचार मात्र से विना खाये, विना भोगे अनेक पापों का संचय करते हैं, यह मैंने यहाँ प्रत्यक्ष देखा।'

'महाराज! आपने जो देखा वह हमें बताओ तो हमारा कल्याण होगा,' इस प्रकार सुनन्दा ने आप्रहपूर्ण निवेदन किया।

'मैं बता दूँ परन्तु तुम लोग उससे अप्रसन्न तो नहीं होओगे?'

‘कदापि नहीं’ सुनन्दा ने दृढ़ निश्चय पूर्वक कहा।

मुनि ने लाभ जान कर गम्भीरता से कहा, ‘तो सुनो’

‘सुनन्दा! तू वारह वर्ष की थी तब तूने एक पुरुष को अपनी पत्नी को पीटते देखा और तूने निर्णय किया कि मैं कदापि विवाह नहीं करूँगी। पोटशी होने पर तूने एक युगल को प्रेम में अनुरक्त देखा और तुझे अपनी भूल समझ में आई कि स्त्री का निर्वाह पुरुष के बिना नहीं हो सकता। इतने में तूने रूपसेन को देखा। उसे तूने संकेत करके समझाया कि कौमुदी महोत्सव की रात्रि के प्रथम प्रहर के पश्चात् राज प्रासाद की पिछली खिड़की पर मैं रस्सी की सीढी रखवाऊँगी, तुम वहाँ आना और हम शान्ति पूर्वक मिलेंगे।’

‘सुनन्दा! तू मानती है कि कौमुदी महोत्सव के प्रथम प्रहर में रूपसेन आया, परन्तु सच्ची बात से अभी तक तू अनभिज्ञ है। तेरे महल पर जुए में हारा हुआ महालव जुआरी आया था। उसने सीढी देखकर उसे हिलाई और सीढी पर चढ़कर वह तेरे कक्ष में प्रविष्ट हो गया। इतने में सामने से तेरी माता की सखियाँ आती हुई दिखाई दीं जिससे तूने अपने कक्ष के दीप बुझवा दिये और उस जुआरी को रूपसेन समझ कर तू उसके साथ भोग-विलास में लीन हो गई। ‘समय मिलने पर हम परस्पर बातें करेंगे’ - यह कह कर उसे रूपसेन मान कर तूने विदा कर दिया और वह तेरे दूटे हुए आभूषण लेकर चला गया। यह सब सत्य है अथवा नहीं?’



मुनि ने लाभ जानकर सुनन्दा को विषय-कषाय के वशीभूत रूपसेन की दुर्दशा का वर्णन करने हुए कहा।

‘ज्ञानी भगवन्त! आप जो कुछ कह रहे हैं वह सब सही है, परन्तु भगवन्! रूपसेन का क्या हुआ?’ निःश्वास छोड़ती हुई सुनन्दा ने पूछा।

‘सुनन्दा! रूपसेन भी तेरी तरह अस्वस्थता का वहाना बना कर कौमुदी महोत्सव में नहीं गया। प्रथम प्रहर व्यतीत होने पर घर वन्द करके प्रफुल्लित होता हुआ वह तेरे महल में आने के लिए रवाना हुआ, परन्तु कर्म की विचित्र गति के कारण एक निराधार दीवार के गिर जाने से उसके नीचे दब कर वह मर गया और मरणोपरान्त तेरे गर्भ में जीव के रूप में उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् वह साँप, कौआ, हंस एवं हिरन बना। जो हिरन का माँस आप आनन्द पूर्वक भक्षण कर रहे हैं, वह रूपसेन के जीव का कलेवर है।’

सुनन्दा ने हाथों से कान वन्द कर दिये और ‘अरेरे!’ कह कर वह चिल्ला पड़ी और बोली, ‘भगवन्! मैं घोर पापिणी हूँ। रूपसेन ने तन से पाप नहीं किया फिर भी उसकी ऐसी दुर्दशा हुई, तो मेरा क्या होगा? भगवन्! क्या किसी प्रकार से मेरा उद्धार सम्भव है?’

‘त्याग-मार्ग से महा पापी का भी उद्धार होता है। जब तक मनुष्य के हाथ में जीवन की रस्सी है, तब तक तैरने के समस्त मार्ग हैं।’

‘भगवन्! रूपसेन का जीव हिरन की योनि में से च्यव कर कहाँ उत्पन्न हुआ है? उस विचारे का क्या किसी प्रकार से उद्धार होगा?’

‘भद्रे! विन्ध्याचल के सुग्राम गाँव के सीम में वह हाथी के रूप में उत्पन्न हुआ है। तेरे ही मुँह से वह पूर्व के सात भवों का विवरण सुनेगा, जिससे उसे जाति-स्मरण ज्ञान होगा और उसका मोह नष्ट होगा, वह धर्म प्राप्त करेगा और देवलोक में जायेगा।’

सुनन्दा राजा की ओर उन्मुख हुई और बोली, ‘नाथ! आपने मुझ कुलटा का, व्यभिचारिणी का चरित्र सुन लिया। मैं भ्रष्ट चरित्र वाली रूपसेन के अनर्थ की कारण हूँ। आप आज्ञा प्रदान करें तो दीक्षा अङ्गीकार करके मैं अपना और जिसके मैंने सात-सात भव नष्ट किये हैं उसका कल्याण करने का प्रयास करूँ।’

राजा बोला, ‘देवी! जीव मात्र कर्माधीन है। तू अकेली क्यों? हम दोनों दीक्षा अङ्गीकार करें और अपना कल्याण करें।’

मुनिवर ‘मा घडिदन्धं करेह’ अर्थात् ‘विलम्ब मत करो’ कहकर वे गुरुदेव के समक्ष गये।

तत्पश्चात् राजा ने, रानी ने और अनेक भावुकों ने दीक्षा ग्रहण की। राजा ने उत्कृष्ट चरित्र की आराधना की और उसी भव में मुक्ति प्राप्त की।

(८)

कठोर तप एवं घोर पश्चाताप से कृश बनी साध्वी सुनन्दा को गुरुवर्याश्री की आज्ञा में रह कर उत्तम चारित्र्य का पालन करते-करते अवधिज्ञान हुआ।

एक बार सुनन्दा साध्वी ने गुरुवर्याश्री को कहा, 'महाराज! आप आज्ञा प्रदान करें तो मेरे निमित्त जिसने सात भवों तक कष्ट सहन किये हैं उस रूपसेन के जीव हाथी को प्रतिबोध देने के लिए मैं जाना चाहती हूँ।

'आर्ये! तू ज्ञानी है। यदि उसमें तुझे लाभ प्रतीत होता हो तो मेरी आज्ञा ही है। कोई भी जीव आराधक बने यह तो हम चाहते ही हैं।'

गुरुवर्याश्री की आज्ञा शिरोधार्य करके साध्वी सुनन्दा चार अन्य साध्वियों के साथ सुग्राम आई और वहाँ वसति की याचना करके चातुर्मास के लिए रही।

'महाराज! आप गाँव के बाहर कहाँ जा रही हैं? वृक्षों को उखाड़ता हुआ और मार्ग में जो आये उसे नष्ट करता हुआ उन्मत्त हाथी गाँव के जंगल में ही है। आप उपाश्रय में लौट जाओ' - इस प्रकार हॉफते हुए लोगों के समूह ने गाँव के बाहर जाती सुनन्दा साध्वी को कहा, फिर भी वह तो तनिक भी ध्वराये बिना सीधी आगे बढ़ी।

पुनः लोगों के समूह ने उन्हें आवाज दी, 'महाराज! आप आगे न बढ़ें। पागल एवं उन्मत्त हाथी जिसे देखता है उसे मार डालता है।'

मिट्टी उड़ाता हुआ, शाखाएँ तोड़ता हुआ और जो मार्ग में आये उसे नष्ट करता हुआ हाथी लोगों ने दूर से देखा तो कोई छप्पर पर तो कोई गढ़ पर चढ़ कर थर-थर काँपने लगा। दौड़ो, भागो चिल्लाने लगा।

इतने में हाथी साध्वी की ओर झपटा। लोगों ने चीख मचाई, परन्तु साध्वी की ओर देखते ही उसके नेत्र मोहवश हो गये और वह हाथी उनके चारों ओर घूमने लगा।

साध्वी ने गम्भीर स्वर में कहा, 'रूपसेन! समझ-समझ, मेरे प्रति तू मोह क्यों कम नहीं कर रहा है? तू रूपसेन था, फिर मेरे गर्भ में आया, साँप-कौआ-हंस और हिरन का भव करके इस सातवे भव में तू हाथी हुआ है। अनर्थदण्ड से तू क्यों परेशान हो रहा है? स्नेह-बंध तोड़ कर दुःखों से बच।'

हाथी असमंजस में पड़ा। उसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ। उसके नेत्रों में अश्रु छलक आये। सातों भव उसकी दृष्टि के समक्ष स्पष्ट दृष्टिगोचर हुए। वह पश्चाताप करता हुआ सोचने लगा, 'अरे! मैं भूल गया। सात भवों तक मोह में डूबा रहा, मोहान्ध बना रहा। ये मोह में डूबी, तैर गई और मुझे भी तारा।' स्रुँड के द्वारा नमस्कार करके हाथी साध्वी को वन्दन करने लगा और 'गुरुवर्याश्री! मेरा उद्धार करो' कहता हुआ आँखों

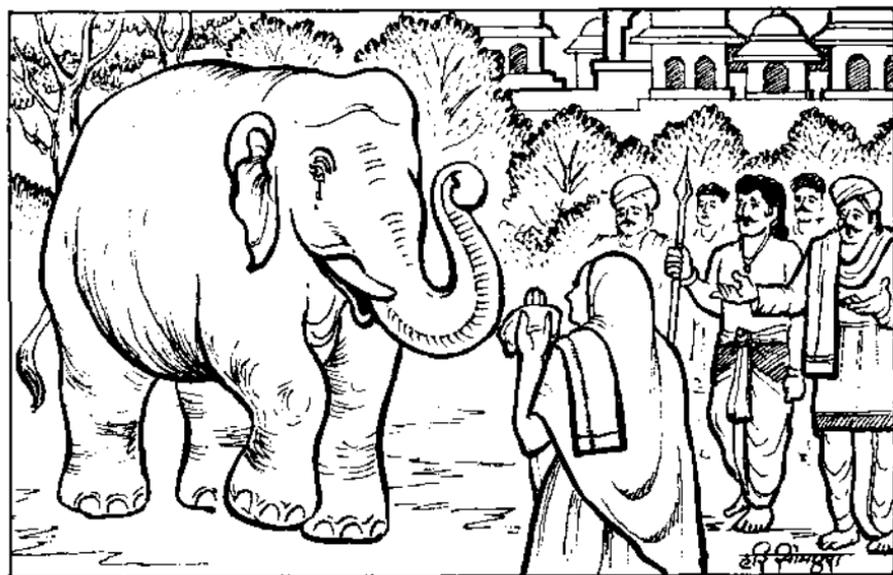
में आँसू भरकर पश्चाताप करता हुआ भद्र बना।

साध्वीजी के गुण-गान करते लोगों के समूह ने साध्वी को घेर लिया। गाँव के राजा भी वहाँ आये। हाथी सीधा गाँव की हस्तिशाला में चला गया।

साध्वीजी ने राजा को हाथी के सात भवों का सम्वन्ध बताया और कहा कि 'राजन्! यह हाथी भव्य है, यह छट्ठ के पारणे छट्ठ करेगा और देव-गति प्राप्त करके अपना कल्याण करेगा।'

राजा ने हाथी को आराधना करवाई और उसने तप करके देवगति प्राप्त की।

साध्वी सुनन्दा को लोगों को 'केवल मन से किये गये पाप से-अनर्थदण्ड से जीव कैसे कैसे कष्ट प्राप्त करता है।' - यह समझाते हुए केवलज्ञान प्राप्त हुआ और वे निर्वाण-पद को प्राप्त हुईं।



सुनन्दा साध्वी के वचन सुनकर हाथी प्रतिबोधित हुआ एवं 'मेरा उद्धार करो'  
यू कहना हुआ पश्चाताप करता हुआ भद्र बना.

(५)

पुण्य, पाप, संयोग अर्थात्

## पुण्याढ्य राजा की कथा

(१)

पद्मपुर नगर में तपन नामक राजा राज्य करता था। राजा जब राज्य-सभा में बैठे था, तब किसी ने उसे समाचार दिये कि 'राजन्! धनावह व्यापारी एक सुन्दर हाथी लेकर आपके पास आ रहा है।' राजा स्वागतार्थ आया। उसने व्यापारी एवं हाथी का आदर-सत्कार किया और बोला, 'श्रेष्ठिवर! मेरे भाग्य के द्वार आप हैं मैं आपको किस प्रकार प्रसन्न करूँ? इस पर राजा के विनम्र व्यवहार से अति प्रसन्न होकर व्यापारी ने वह हाथी राजा को उपहार में प्रदान कर दिया। कृतज्ञता प्रकट करते हुए राजा ने कहा - वास्तव में आपने मुझे यह हाथी नहीं दिया बल्कि यह हाथी प्रदान करके आपने मुझे 'राजाधिराज' पद प्रदान किया है, क्योंकि उसके आगमन से मैं जिन राज्यों का अधिष्ठाता बनूँगा उन सबमें प्रताप आपका ही गिना जायेगा।'

इस प्रकार राजा ने कृतज्ञता बताते हुए कहा और अपने राज्य की आधी सीमा श्रेष्ठी को सौंप दी, जिससे धनावह श्रेष्ठी से राजा बन गया।

तपन राजा ने शुभ मुहूर्त में विजय-यात्रा के लिए प्रयाण किया। राजा ने हाथी, अश्व, रथ, प्यादों का दल आदि सब सैन्य लिया, परन्तु यह सब तो शोभा मात्र थी वास्तविक महत्त्व गजराज का ही था। हाथी ही एक के पश्चात् एक राज्य दिलाता हुआ आगे बढ़ता गया। जिस किसी ने भी सामना किया अकेला हस्तिराज ही उसे चमत्कार दिखा कर झुकाता रहा।

देखते ही देखते तपन राजा ने समस्त राज्य अपने अधीन कर लिये और सेना के साथ पद्मपुर लौट आया।

राजद्वार पर आते ही हाथी ने अचानक इधर-उधर सूँड घुमाई। एक दूकान से 'खडिया' लेकर राजद्वार में प्रवेश करते समय लिखा-

'अविज्ञातत्रयीतत्त्वो, मिथ्याचमाउत्फुल्लमहिभुजः।

हा! मुढः शत्रुपोषेण, मित्रप्लोषेण हृष्यति॥११॥

राजा ने श्लोक का अर्थ समझना चाहा परन्तु उसे समझ में नहीं आया कि कौन से मित्रों को मैं जला रहा हूँ, कौन से शत्रुओं का मैं पोषण कर रहा हूँ?

राज्य के पण्डितों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से श्लोक के भिन्न-भिन्न अर्थ किये परन्तु राजा

के मत्तिष्क में एक भी अर्थ अच्छी तरह नहीं वैठा। राजा ने आचार्य भगवन् श्री आनन्दचंद्रसूरीश्वरजी को राज्य-सभा में निमन्त्रित किया और श्लोक का अर्थ पूछा।

सूरीश्वरजी ने कहा, 'राजन्! यह हाथी कोई सामान्य प्राणी नहीं है। यह तुझे राज्य दिलवाने नहीं आया, परन्तु पूर्व भव का तेरा कोई मित्र तुझे अपने कर्त्तव्य का स्मरण कराने के लिए तेरे पास आया हो ऐसा प्रतीत होता है। अन्यथा तुझे राजाधिराज बना कर ऐसा क्यों कहा कि - 'राजन्! तू व्यर्थ मत फूल। देव, गुरु एवं सच्चे धर्म-तत्त्व को समझ और राग-द्वेष रूपी शत्रुओं का पोषण करना बन्द कर दे तथा समता आदि मित्रों की रक्षा कर।'

'महाराज! मेरे मित्र ने जो कहा है उसका मैं किस प्रकार पालन कर सकता हूँ?' राजा ने मार्ग पूछते हुए कहा।

'क्रोध, मान, माया, लोभ अंतरशत्रु है। उनका नाश तथा समता आदि मित्रों की सच्ची प्राप्ति तो संयम में ही है और राज्य का उपभोग करते हुए संयम पाला नहीं जा सकता।' मुनि ने सच्चा मार्ग बताते हुए कहा।

तत्पश्चात् राजा ने आचार्य भगवन् श्री आनन्दचन्द्रसूरी के पास संयम अङ्गीकार किया और उन्हीं के साथ विहार किया।

## (२)

राजा के पुत्र नहीं होने से मंत्रियों ने हाथी को स्वर्ण-कलश दिया और जिसके ऊपर हाथी कलश उड़ेला उसे राज्य-सिंहासन दिया जायेगा ऐसा निर्णय करके "मन्त्र के पीछे सिद्धियाँ चलती हैं" उसी प्रकार हस्तिराज के पीछे सब चलने लगे।

हाथी ने गाँव छोड़ दिया, जंगल छोड़ दिया और बड़े वन में उसने प्रवेश किया। मंत्री भी उसके पीछे-पीछे चले। इतने में एक वृक्ष के नीचे वस्त्र ओढ़कर सोये हुए व्यक्ति पर हाथी ने कलश उड़ेल दिया। मंत्रियों ने जय-जयकार की ध्वनि करके सोये हुए व्यक्ति का राजा के रूप में अभिनन्दन किया, परन्तु वस्त्र हटाते ही एक लूले, पंगु, वामन को देख कर मंत्री सोच में पड़े कि - 'यह क्या शासन करेगा? और क्या हम ऐसे पंगु राजा के कर्मचारी बनेंगे?'

इतने में हाथी ने उस पंगु को सँड से उठाया और अपनी पीठ पर बिठाकर पद्मपुर की ओर लौट चला।

प्रजा एवं महामंत्री दोनों को हाथी के पूर्व कर्त्तव्य का ध्यान होने से अत्यंत आश्चर्य में लीन होकर उन्होंने पंगु राजा का स्वागत किया और सभी ने उसका नाम, ठिकाना जानने की इच्छा किये बिना ही राजाधिराज का पद प्राप्त करने वाले उस पंगु को 'पुण्याढ्य' कह कर सम्बोधित किया।

(३)

‘पशु की बुद्धि पर तो पशु हो वह चलता है’ - यह कह कर धनावह ने पुण्याढ्य के विरुद्ध विद्रोह किया और वह पद्मपुर नगर से बाहर निकल गया।

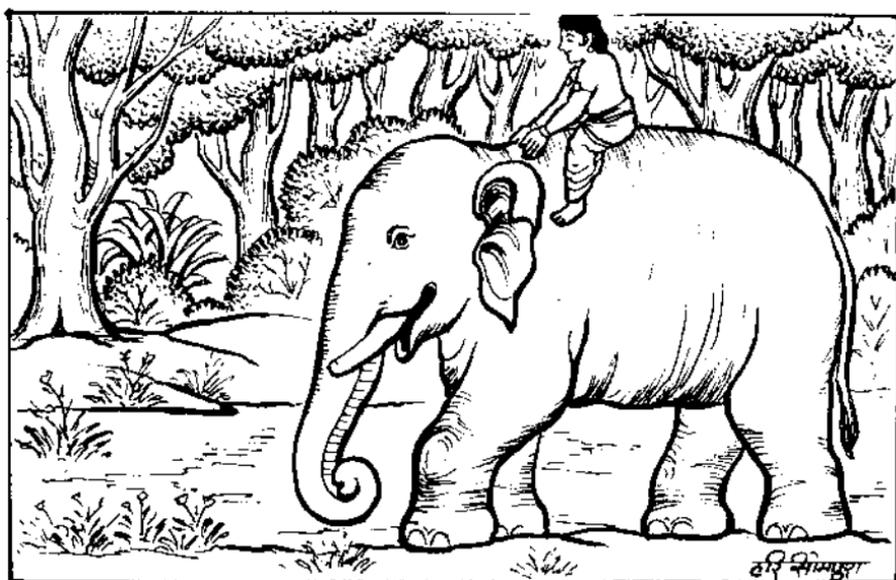
समझदार गिने जाने वाले मनुष्यों में भी बुद्धि-भेद हो गया और वे कहने लगे कि ‘ऐसे व्यक्ति को राजा कैसे माना जाये?’

एक के पश्चात् एक इस तरह अनेक व्यक्ति धनावह से जा मिले। नगर खाली होने लगा और धनावह पूर्ण राजा हो ऐसे चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे।

पंगुराज पुण्याढ्य असंमंजस में पड़ गया। इतने में हाथी का महावत बोला, ‘राजन्! व्याकुल न हों। यह हस्तिराज विपत्ति में से सम्पत्ति में ले आता है, इसकी अद्वितीय शक्ति है।’

इतने में हाथी ने पंगुराज पुण्याढ्य को पीठ पर बिठाया और कुछ विश्वस्त सैनिकों के साथ धनावह की सेना में प्रविष्ट हो गया।

सागर की लहरें ऊपर घिर आती हैं उसी प्रकार ‘मारो मारो’ करती हुई सेना ने हाथी को चारों ओर से घेर लिया। कोई कहने लगा कि ‘ऐसे व्यक्ति को कहीं राज्य दिया जाता है?’ तो कोई कहने लगा, विचारे इसका क्या दोष है? दोष तो सब हाथी का है कि वह ऐसे व्यक्ति को ले आया।’ तो कोई चतुर व्यक्ति कहने लगा कि ‘हम कुछ भी कहें परन्तु यह हाथी दैवी है, यह उसे ले आया है तो अवश्य उसकी रक्षा करेगा।’



लक्ष्मणोपंत हाथी पंगु को उठा अपनी पीठ पर बिठा कर नगर की ओर चला।

दृष्टि भी न पहुँच सके वहाँ तक फैली हुई शत्रु की सेना के मध्य घिरे हुए पंगुराज पुण्याढ्य तनिक उदासीन होने लगे। इतने में किसी दैवी आवाज ने कहा, 'पंगुराज! चिन्ता मत करना, विजय तेरी है; जो आये उसे लेकर फैंकता जा।'

इतने में अचानक हवा से उड़ता हुआ एक तिनका पुण्याढ्य के हाथ में आया और उसे फैंकने पर वह वज्र वन कर धनावह के मस्तक पर मँडराने लगा।

धनावह काँप उठा, और सेना भी काँप उठी। सभी लोग हस्तिराज के समक्ष आकर मुँह में तिनका लेकर खड़े रहे और शरण में आकर 'पुण्याढ्य राजाधिराज की जय' के घोष के साथ सवने नगर में प्रवेश किया।

लोगों ने कहा कि, 'जिसका पुण्य प्रबल है, उसका बाल भी बाँका कौन कर सकता है?'

देश-देश में ये समाचार पहुँचे और जो राजा पंगुराज को छेड़ना चाहते थे वे सब ठण्डे पड़ गये और एक के पश्चात् एक पंगुराज पुण्याढ्य के चरणों में गिर कर, उसके सामने भेंट धर कर उसके अधीनस्थ राजा बन गये।

### (४)

एक दिन पंगुराज पुण्याढ्य राज-सभा में बैठे हुए थे। इतने में वनपाल ने आकर समाचार दिये कि तपन राजर्षि का उद्यान में आगमन हुआ है। राजा पुण्याढ्य हाथी के साथ उनकी देशना श्रवण करने के लिए गया। राजा एवं प्रजा ने सिर हिला-हिला कर देशना रूपी अमृत पर्याप्त प्रमाण में अपने अन्तर में उतारा।

देशना पूर्ण होने पर पुण्याढ्य राजा ने राजर्षि भगवन् को पूछा, 'भगवन्! राज्य, समृद्धि, आरोग्य, ज्ञान आदि सब पुण्य से प्राप्त होते हैं, तो मैंने पूर्व भव में ऐसा क्या पुण्य किया था कि मुझे ऐसी राज्य-ऋद्धि प्राप्त हुई और साथ ही साथ मैंने ऐसा कौन सा पाप किया कि मैं पंगु बना?'

राजर्षि ने कहा, 'तुमने पूर्वभव में अपार पुण्य उपार्जन किया है, जिससे तुम्हें इतनी ऋद्धि प्राप्त हुई है। फिर भी उस पुण्य के साथ पाप भी किया है जिसके कारण पंगु बने हो।'

'भगवन्! एक साथ दो कैसे हो सकते हैं? पुण्य हो तो पाप कैसे होगा? और पाप हो तो पुण्य कैसे होगा?' राजा ने आश्चर्य से पूछा।

मुनि ने पुण्य-पाप की एकता का समाधान करते हुए कहा, 'राजन्! मन के परिणाम अनेक प्रकार के होते हैं। किये गये उत्तम कार्यों को भी मन की विकल्पना क्षण भर में मिट्टी में मिला देती है। ऐसा सब तुम्हारे पूर्व भव के जीवन में हुआ है।'

(५)

पूर्व भव में लक्ष्मीपुर नगर में राम, वामन और संग्राम नामक तीन मित्र थे। साधु पुरुष के मन, वचन और काया में एकता होती है उसी प्रकार वे तीनों एकता वाले थे। सबकी आयु समान थी, जाति समान और रहन-सहन भी समान था। लगभग चौदह वर्ष की आयु में वे तीनों उद्यान में गये और वहाँ उन्होंने एक मुनि को ध्यानस्थ देखा। तीनों ने भावपूर्वक उनको वन्दन किया, परन्तु वन्दन करते समय वामन की पीठ पर जल की एक बूँद गिरी। जब उस वामन ने ऊपर देखा तो मुनि की आँख में काँटा दिखाई दिया। आँख में पीड़ा होते हुए भी मुनि अविचलित दिखाई दिये।

वामन ने मित्रों को कहा, 'मुनिवर की आँख में काँटा है उसे निकालना चाहिये, परन्तु मैं छोटे कद वाला उसे कैसे निकालूँ?'

राम ने कहा, 'काँटा निकालना हो तो मैं घोड़ा बनता हूँ। तू मुझ पर चढ़ कर सुविधापूर्वक काँटा निकाल ले। तू अपने छोटे कद का पश्चाताप क्यों करता है? मेरी पीठ पर चढ़कर तू ऊँचा हो जा।'।

इतने में संग्राम बोला कि, 'ऊपर चढ़ने में तुझे सहारे की आवश्यकता पड़े तो मेरे हाथ का सहारा लेना, घबराता क्यों है?'

तुरन्त राम नीचे झुका और वामन संग्राम के हाथ का सहारा लेकर उस पर चढ़ गया और काँटा खींच निकाला, परन्तु मुनि की देह मलिन होने के कारण उसने मुँह



राम नीचे झुका और वामन संग्राम का सहारा लेकर उस पर चढ़ गया और काँटा खींच निकाला।

विगाडा और अंग संकुचित कर लिये। तत्पश्चात् तीनों मित्र हर्षित होते हुए नगर की ओर लौट चलें। उस समय वामन ने कहा, 'परोपकार जैसी वस्तु हमारी क्षत्रिय जाति के अतिरिक्त दूसरों में नहीं है। हमने मुनि के आँख में काँटा देखा तो तुरन्त रुक गये और काँटा निकाल दिया। यहाँ होकर अनेक व्यक्ति निकलते रहते हैं, परन्तु किसी को कोई चिन्ता है? सचमुच, हमारे इस काम का हमें बहुत फल मिलेगा।'

हँसते-हँसते राम ने कहा, 'फल तो मिलना होगा तब मिलेगा। मुझे तो अभी तुरन्त चतुष्पद (घाँडा) बनना पड़ा।'

संग्राम बोला, 'मित्र! ऐसा नहीं बोलना चाहिये। हँसते-हँसते ऐसा बोलने से पुण्य समाप्त हो जाते हैं। काँटा निकाला उसके फल से तो निष्कंटक राज्य प्राप्त होगा।'

वामन ने कहा, 'ऐसी क्या बात करता है? मुनि की परिचर्या का फल तो अपार होता है।'

राजन्! वे तीनों मित्र अपना जीवन पूर्ण करके चल वसे।

वामन तू है, राम बना हस्तिराज और संग्राम मैं हूँ। मुनि की परिचर्या से मैंने व संग्राम ने पूर्व भाव में निष्कंटक राज्य प्राप्ति का संकल्प किया था, व जिसके कारण मुझे निष्कंटक राज्य प्राप्त हुआ।

'मुझे तो अभी चतुष्पद बनना पड़ा' - यह कहने के कारण राम मर कर हाथी बना, उसे जाति स्मरण ज्ञान हुआ और वह मुझे प्रतिबोध देने के लिए मेरे राज्य-द्वार पर आया और मैंने दीक्षा अङ्गीकार की।

मुनि ने कहा, 'राजन्! तू पुण्याढ्य बना यह पूर्व भव की परिचर्या का फल है, परन्तु तू जो अचान्तिके के सुवाहु राजा के भव में छत्रधर किन्नर के घर नीच कुल में उत्पन्न हुआ वह पूर्व के क्षत्रियत्व का अभिमान किया था उसका प्रताप था।

तू वामन क्यों हुआ वह सुन। किन्नर छत्रधर के घर पर तेरा नाम श्रीदत्त रखा गया था। तेरा सुन्दर रूप और कान्ति देख कर सुवाहु राजा के किसी ने कान भर दिये कि 'ऐसे लक्षणों वाला राजा होता है।'

राजा को राज्य जाने का भय लगा। उसने श्रीदत्त का वध कराने का पडयन्त्र रचा, परन्तु तुझे उसका पता लगते ही तू जंगल में चला गया। जंगल में पूर्व भव में मुनि के काँटा निकालते समय उनके मैल से जो संकोच किया था उस पाप का उदय हुआ और तू संकोच फल खाकर सोया जिससे तेरी देह संकुचित हो गई।

राजन्! एक हाथ देना है और दूसरे हाथ से लेना है। किया हुआ कर्म भोगना ही पड़ेगा। तूने पुण्य एवं पाप एक साथ उपार्जित किये, जिससे तुझे राजऋद्धि रूप सुख और वामन रूप रूपी दुःख एक साथ प्राप्त हुए।'

‘भगवन्! मैं पंगु क्या दीक्षित नहीं हो सकता?’ शोक करते हुए राजा ने कहा।

‘राजन्! तेरा पंगुपन भी मिटेगा और वह मिटते ही तू इसी भव में मुक्ति-पद प्राप्त करेगा।’

यह सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने तथा हाथी ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। मुनिवर ने पवन वेग की तरह अप्रतिबद्ध विहार किया और पंगु-राजा पुण्याढ्य नगर में आया।

### (६)

समय व्यतीत होने पर हाथी अस्वस्थ हुआ। उसकी हड्डियाँ टूटने लगी। उसने अत्र-जल का परित्याग किया। राजा ने आकुल-व्याकुल होकर अनेक उपचार किये परन्तु एक भी कारगर सिद्ध नहीं हुआ।

हस्तिराजा ने राजा को संकेत से बताया, ‘मित्र! शोक मत कर। जिसका नाम है, उसका नाश अवश्य भावी है। अतः अब तू उपवन में चल, क्योंकि हाथी की मृत्यु गाँव के भीतर हो उस गाँव की कुशलता नहीं।’

हाथी अपने आप उपवन में आया, नीचे बैठा। उसकी आँखें पथराती देख राजा ने कहा, ‘हे बन्धु! धैर्य रख, समस्त जीवों के प्रति समता रख, पाप का प्रायश्चित्त कर। अरिहन्त परमात्मा की शरण हो, सिद्ध की शरण हो, साधु भगवंत की शरण हो और भगवान का धर्म तुझे शरण रूप हो।’ राजा के शब्द सुन कर हाथी ने अन्तिम साँस छोड़ा।

राजा धैर्य खोकर चीख-चीख कर रो पड़ा। मंत्रीगण ने आश्वासन दिया परन्तु उसकी दृष्टि से किसी प्रकार से हस्तिराज ओझल नहीं हुआ।

रात्रि का समय हो गया। राजा इधर-उधर करवटें बदलता और हाथी के गुणों को स्मरण करता लेटा हुआ था कि हाथी उसके सामने दिखाई दिया। राजा तुरन्त बैठ गया और मन में सोचने लगा ‘हाथी तो मर गया और मैं उसे देख रहा हूँ, यह क्या?’ वह ऐसे भ्रम में पड़ गया। इतने में हाथी ने कहा, ‘राजन्! मेरी मृत्यु हो गई यह सत्य है। मृत्यु के समय मेरे अर्धवसायों में परिवर्तन हो गया था। वैद्यों पर मुझे क्रोध आया था, मैं कुछ ठीक हो जाऊँ तो राज्य के हराम के पैसे खाने वाले वैद्यों को कुचल दूँ, उस विचार में मैं आग बबूला हो रहा था। उस समय तूने मुझे आराधना के मार्ग पर सन्मुख करके मेरी चित्त-वृत्ति परिवर्तित कर दी। मैं अरिहन्त परमात्मा की शरण में तन्मय हो गया और देवगति में गया। तेरा उपकार स्मरण करके मैं हाथी का रूपधर कर तेरे पास आया हूँ।’

‘राजन्! तू झरोखे में है। क्या झरोखे में हाथी आ सकता है? मैं देव हूँ, हाथी नहीं।’

पुण्याढ्य! ले यह कल्पवृक्ष का फल। उसे तू खा ले और अपनी देह की संकुचितता दूर करले।

पुण्याढ्य ने कहा, 'हस्तिराज से तुम देव बने हो। अब पशु-सुलभ मोह प्रदर्शित मत करो। इस समय रात्रि है और रात्रि-भोजन श्रावक के लिए वर्जित होता है।'

हस्तिदेव बोला, 'राजन्! धन्य है तेरे वृद्ध व्रत को। तू दिन के समय फल का उपभोग करना और अपनी संकुचितता मिटाना।'

प्रातःकाल हुआ, अरुणोदय हुआ। नवकारशी का समय होने पर राजा ने देव गुरु के स्मरण, चिन्तन, अर्चन के पश्चात् उस फल को खाया और कंचनवर्णी देह प्राप्त की।

समय व्यतीत होने पर जिस स्थान पर हाथी की मृत्यु हुई थी उस स्थान पर राजा एक बार गया। राजा को हाथी, उसके उपकार आदि का स्मरण हुआ, वैराग्य-भावना जाग्रत हुई। उसने उसकी मृत्यु के स्थान पर एक जिनालय का निर्माण कराया और उसके दर्शन करते समय भावोल्लास से केवलज्ञान तथा सिद्धिगति दोनों तुरन्त प्राप्त किये। पाप से पंगु और पुण्य से राजाधिराज बना जा सकता है, उसका जनता के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत कर, आत्म-कल्याण किया।

(वासुपूज्य चरित्र से)

(६)

स्वाध्याय-श्रवण अर्थात्

## अवन्तिसुकुमाल का वृत्तान्त

(१)

उज्जयिनी नगरी एक प्राचीन नगरी है। इस नगरी में जीवित स्वामी की प्रतिमा होने के कारण बड़े-बड़े आचार्य यहाँ दर्शनार्थ आते थे।

इस कारण से ही आर्य सुहस्तिसूरि महाराज भी ५०० शिष्यों के साथ यहाँ पधारे और सेठानी भद्रा के मकान में वसति की याचना करके रहे।

(२)

भद्रा सेठानी का मकान सातमंजिला था। उनके इकलौता पुत्र था। वह अत्यन्त लाडला था और पुष्पों की पंखुडियों से मानो उसकी देह निर्मित हुई हो उस प्रकार अत्यन्त सुकोमल था। अतः सभी उसे अवन्तिसुकुमाल के नाम से पहचानते थे।

यह बालक छोटा था तब से वह एकाकी एवं विचारों में खोया रहता था। अतः युवा होने पर कदाचित् वह संन्यासी अथवा साधु न हो जाये उस भय से भद्रा माता ने वत्तीस कन्याओं के साथ उसका विवाह कर दिया।

अवन्तिसुकुमाल अपनी पत्नियों के साथ सातवीं मंजिल पर निवास करता था। उसकी दृष्टि एवं सृष्टि में स्त्रियाँ तथा विलास था। माता घर का सब काम-काज देखती और पुत्र को तनिक भी परिश्रम न पड़े उसका ध्यान रखकर उसे किसी भी व्यवस्था अथवा व्यवहार से दूर रखती और पुत्र प्रसन्न है अथवा नहीं, उसका ही मदा ध्यान रखती।

एक दिन रात्रि के प्रथम प्रहर में अवन्तिसुकुमाल झरोखे में बैठा हुआ था। उसकी दृष्टि के समक्ष आमोद-प्रमोद का वातावरण था। वत्तीस पत्नियाँ एवं परिवार-जन प्रतिक्षण उसकी सेवा में तत्पर थे। फिर भी आज वह नित्य के इस कार्य से कुछ उकताया हुआ था। आकाश में उदित तारों और दूर-दूर स्थित स्थिर जंगलों का देखकर उसके मन में अनेक विचार उत्पन्न होते और पुनः लुप्त हो जाते। उस समय उसे दूर से कोई आवाज सुनाई दी। ध्वनि मन्द थी परन्तु उच्चारण स्पष्ट होने से वे शब्द उसके कानों में पड़ते ही हृदय में उतर गये और वह व्याकुल हो उठा। समय होने पर उसकी पत्नियाँ गहरी नींद में सो गईं।

अवन्तिसुकुमाल की समस्त इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो गई थीं परन्तु कान एवं मन आवाज की दिशा में स्थिर थे। कुछ समय पश्चात् आवाज शान्त हो गई परन्तु अवन्तिसुकुमाल

का हृदय शान्त नहीं हुआ। वह उठा और किसी को बिना जगाये नीचे आया। इतने में नीचे की मंजिल पर सोई हुई भद्रा माता जग गई और पूछा, 'कौन?'

अवन्तिसुकुमाला ने कहा, 'माता! यह तो मैं हूँ।'

आवाज पहचान ली और भद्रा माता ने खड़ी होकर कहा, 'पुत्र! क्या स्वास्थ्य ठीक नहीं है?'

'स्वास्थ्य तो ठीक है, परन्तु माता! हमारे मकान के सामने यह कौन गा रहा है?'

'पुत्र! वहाँ आर्य सुहस्तिसुरि महाराज ठहरे हुए हैं और वे अथवा उनके शिष्य स्वाध्याय करते होंगे। आचार्यश्री महान् विद्वान् एवं पूर्ण तपस्वी हैं। मैंने जान-बुझ कर ही तुझे यह बात नहीं बताई। जा, सोजा।'

अवन्तिसुकुमाल ऊपर गया, शय्या पर करवटें बदलता रहा परन्तु उस ध्वनि की पंक्तियाँ उसके अन्तर में रम रही थीं और पंक्तियों के प्रत्येक पद का स्मरण करते हुए उसके समक्ष नलिनी-गुल्म विमान खड़ा हो गया और देव-भव सुना। विचार धारा बदलने का उसने अत्यन्त प्रयत्न किया परन्तु किसी भी तरह विचारधारा में परिवर्तन नहीं हुआ।

कहाँ नलिनीगुल्म और कहाँ यह वैभव! चाहे संसार मुझे महान् ऐश्वर्यशाली एवं भाग्यशाली माने परन्तु देव-ऋद्धि के सामने तो यह सब तुच्छ है। इस तुच्छ वैभव, तुच्छ जीवन-काल एवं तुच्छ देह में मैं समझ कर भी कब तक पड़ा रहूँगा?

अवन्तिसुकुमाल मन्द मन्द कदमों से पुनः नीचे उतरा। सब कुछ सुनसान था। वह सीधा आचार्यश्री ठहरे थे, उस द्वार पर आया। सामने गुरुदेव बैठे हुए थे। वहाँ जाकर 'भगवन्! कह कर उसने वन्दन किया।

'कौन?'

'मैं अवन्तिसुकुमाल।'

'भद्र! इतनी देर रात्रि में कैसे आना हुआ?'

'महाराज! अभी अभी यहाँ कुछ गाया जा रहा था, वह क्या आपने अच्छी तरह देखा है?'

आचार्य रामझ गये कि अभी मैं नलिनीगुल्म विमान का स्वाध्याय कर रहा था उस सम्वन्ध में ही यह प्रश्न पूछना चाहता है। गुरु ने कहा, 'भद्र! हमारे लिए तो शास्त्र ही चक्षु हैं और जहाँ चर्म-चक्षु न पहुँचें वैसे अगम-निगम वस्तु हम उनके द्वारा जानते हैं। शास्त्रों में जिस प्रकार नलिनीगुल्म विमान का वर्णन है उस प्रकार का हम स्वाध्याय कर रहे थे।'

'महाराज! यह शास्त्र-वचन मैंने उसी रूप में अनुभव किया प्रतीत होता है, और

जब से मैंने यह गीत सुना है तब से मेरा चित्त शान्त नहीं हो रहा है। भगवन्! मैं क्या करूँ जिससे मैं उस नलिनीगुल्म में जाऊँ?’

‘भद्र! वह तो देवलोक है और उसके लिए तो यह देह अथवा जीवन कुछ भी काम नहीं आता। उसके लिए तप, व्रत, संयम सब कुछ करना पडता है।’

‘भगवन्! मैं सब करने के लिए तत्पर हूँ, परन्तु क्या वह मुझे प्राप्त हो जायेगा?’

‘तप से कुछ भी असाध्य नहीं है।’

‘भगवन्! तो मुझे दीक्षित करें और तप प्रदान करें।’

‘भद्र! तेरी माता की अनुमति के बिना दीक्षा नहीं दी जा सकती।’

‘भगवन्! मैं पलभर भी नहीं रह सकता और मुझे रोका गया तो मैं जीवित नहीं रह सकूँगा। ये वैभव, युवावस्था एवं राग-रंग कितने अपूर्ण एवं अनिश्चित हैं। मुझे तो किसी ने पिंजरे में डाल रखा हो ऐसा प्रतीत होता है। मैं उसमें से बाहर निकलने के लिए तरस रहा हूँ।’

### (३)

प्रातः हुआ। भद्रा माता सब समझ गई। उनके नेत्रों में आँसू थे और वे कह रही थी कि ‘पुत्र! ये वत्तीस स्त्रियाँ, यह हवेली, यह वैभव, यह सब किसके लिये?’

‘माता! ये भी मेरे लिए रहेंगे अथवा नहीं, इसका मुझे थोड़े ही भरोसा है?’

‘पुत्र! तू संयम की बात कर रहा है परन्तु तेरे दाँत मोम के हैं और संयम लोहे के चने हैं, क्या तुझे यह पता है?’



पुत्र! तू संयम की बात कर रहा है मगर तेरे दाँत मोम के हैं और संयम लोहे के चने हैं, क्या तुझे पता है?

‘माता! चने यदि चवायें नहीं जा सकेंगे तो मोम में समाविष्ट तो हो जायेंगे न? माता! पुष्पों का कीड़ा पुष्पों को पहचानने के पश्चात् विष्टा में कैसे रहेगा? मुझे ये स्त्रियाँ नरकागार प्रतीत होती हैं, यह वैभव वादलों के छाँवसा प्रतीत होता है और यह ऋद्धि विजली की चमक सी प्रतीत होती है। माता! पुत्र के शुभ स्थान पर जाने में अन्तराय मत डाल।’

‘पुत्र! तू पागल हो गया है। तेरी सुकोमल देह यह सब सहन नहीं कर सकेगी।’

‘माता! गहन नहीं करेगी तो मैं अनशन कर लूँगा।’

अवन्तिसुकुमाल ने पत्नियों को, माता को और घर को छोड़ दिया; स्वयं ने मुनि-वेप धारण किया और गुरु के समीप जाकर निवेदन किया, ‘महाराज! मुझे दीक्षित करें।’

गुरु ने उसे दीक्षित कर दिया और वृद्ध साधु को साँप दिया।

अवन्तिसुकुमाल मुनि ने गुरु को निवेदन किया, ‘भगवन्! मेरी इच्छा अनशन करने की है। आप आज्ञा प्रदान करें तो तनिक भी विलम्ब किये बिना स्व-कल्याण करूँ।’

गुरु की आज्ञा प्राप्त करके अवन्तिसुकुमाल मुनि अनशन करके स्मशान में कायोत्सर्ग ध्यान में रहे।

स्मशान में सियारों की ध्वनि चारों ओर कान बहरे करती थी, परन्तु मुनि के कानों में तो उसी नलिनीगुल्म की पंक्तियाँ गूँज रहीं थी। भले-भले को विह्वल करने वाले हाड़ पिंजर रामने पड़े थे, फिर भी अवन्तिसुकुमाल का चित्त तो शुभ ध्यान में निश्चल था। ठीक एक प्रहर रात्रि व्यतीत होने पर वहाँ एक भूखी सियारनी बच्चों के साथ आई और पाँव काटने लगी। एक प्रहर तक पाँव को काटती रही। तत्पश्चात् जाँघ, पेट आदि सब उसने काट खाये परन्तु मुनि तो ध्यान में निश्चल रहे और ध्यान-दशा में ही वे स्वर्गवासी हो गये।

प्रातःकाल हुआ। भद्रामाता एवं पत्नियाँ अवन्तिसुकुमाल मुनि के दर्शनार्थ स्मशान में गई, परन्तु उन्हें वहाँ न देख कर गुरु से पूछा। गुरु ने रात्रि का समस्त वृत्तान्त सुनाया और कहा कि तुम्हारा पुत्र नलिनीगुल्म में से आया था और वहीं चला गया।

करुण क्रन्दन करती पत्नियों और माता ने उसके कलेवर(शव) को आँसुओं से भिगो दिया। उसकी ऊर्ध्व-क्रिया क्षिप्रा नदी के तट पर की। एक पत्नी जो गर्भवती थी उसके अतिरिक्त सबने दीक्षा अङ्गीकार की।

अवन्तिसुकुमाल की उस पत्नी का पुत्र हुआ। उसने पिता की स्मृति में क्षिप्रा नदी के तट पर ऊँचे महामन्दिर का निर्माण कराया और आज भी वह खड़ा हुआ मुनि-स्वाध्याय के श्रवण से आत्म-कल्याण करने वाले अवन्तिसुकुमाल की स्मृति करा रहा है।

(७)

सच्ची माता अर्थात्

## मुनि अरणिक की कथा

(१)

तगरा नगरी के व्यवहारी दत्त एवं उसकी पत्नी भद्रा के अर्हन्नक-अरणिक नामक इकलौता पुत्र था।

दत्त एवं भद्रा ने एक वार अरिहन्त परमात्मा की वाणी सुनी और उन दोनों को वैराग्य उत्पन्न हो गया। वे दोनों संसार छोड़ने के लिये तैयार थे, परन्तु बालक अरणिक का क्या किया जाये, यह विचार उन्हें व्याकुल कर रहा था। कभी तो वे धन-सम्पत्ति सहित पुत्र को किसी को सौंप कर दीक्षा ग्रहण करने का विचार करते तो कभी उसका थोड़ा बड़ा होने के पश्चात् दीक्षा अंगीकार करने के विचार पर आते।

दिल्ली को यदि दूध सौंप दें तो कितने समय तक सुरक्षित रहेगा? उस प्रकार धन-सम्पत्ति सहित छोटा बालक सौंपे तो सम्भालने वाला व्यक्ति बालक को सम्भालेगा अथवा सम्पत्ति पर अधिकार करेगा, उस आशय से सौंपने का विचार मन्द हो जाता। साथ ही साथ यह विचार भी करते कि प्रत्येक मानव भाग्य साथ लेकर आता है। उसके भाग्य में सम्पत्ति होगी तो रहेगी और जानी होगी तो जायेगी। माता-पिता संसार में हों तो भी अन्त तक वे थोड़े ही बालक को सम्भाल सकते हैं? हम संसार में क्यों रुके रहें? हमें आयुष्य का भरोसा थोड़े ही है कि पुत्र बड़ा (वधायक) होगा तब तक जीवित रहेंगे?

इस प्रकार उलट-सीधे विचार करने के पश्चात् वे दोनों एक ही विचार पर आये कि हम दीक्षा ग्रहण कर लें और बालक भी दीक्षा ग्रहण करे, जिससे उसकी ओर ध्यान जाने से हमारे संघम में भी खेद नहीं होगा।

(२)

दत्त, अर्हन्नक एवं भद्रा तीनों ने दीक्षा अङ्गीकार की। भद्रा साध्वियों के साथ विचरने लगी और दत्त तथा अर्हन्नक सुविहित आचार्य के समुदाय के साथ श्रमणत्व में जीवन व्यतीत करने लगे।

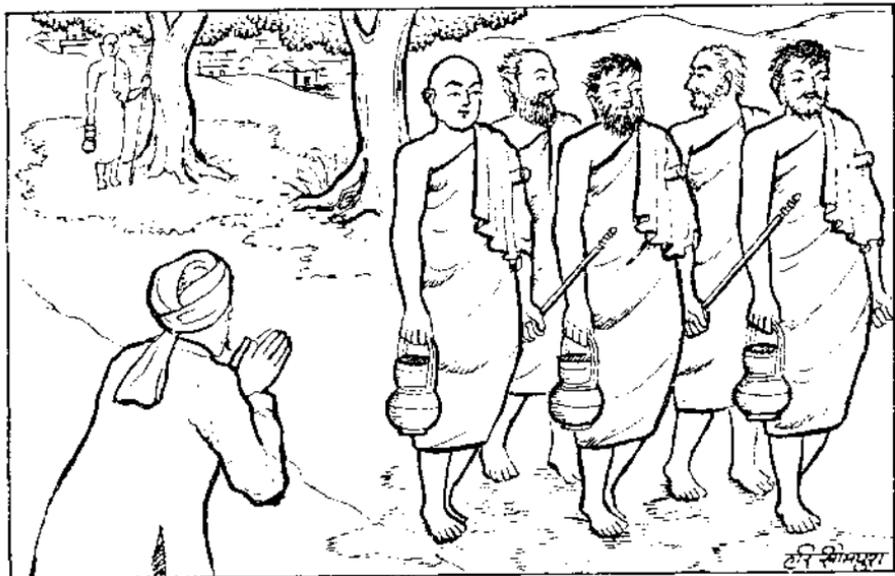
अरणिक साधु बन गया फिर भी उसे पिता मुनि की शीतल छाया में कुछ भी कठिनाई नहीं प्रतीत हुई। दत्त मुनि ने संघम ग्रहण किया, परन्तु पुत्र के प्रति राग होने का कारण

उसकी देखभाल से उनका चित्त हटा नहीं। अरणिक को तनिक भी कष्ट न हो उसका वे अत्यधिक ध्यान रखते। सर्दी-गर्मी सब में वह कहीं दुःखी न हो उसका वे ध्यान रखते और गोचरी आदि सब करने के कार्य वे कर देते। साथी साधु यदि कहते कि 'वह तुम्हारे लिए बहुत बुरा है, उसे छोड़ दो' तो वे कहते कि 'वह तुम्हारे लिए बहुत बुरा है, उसे छोड़ दो'।

समय जाने पर ग्रीष्म ऋतु में दत्त मुनि कालधर्म को प्राप्त हो गये। गोचरी लाने का बोझ अरणिक के सिर आया। दो चार दिन तो साथी साधु गोचरी ले आये, परन्तु फिर अरणिक को अनिवार्य रूप से गोचरी (भिक्षा) के लिए निकलना पड़ा।

ठीक मध्याह्न का समय था। धरातल तब सा तप रहा था। नंगे पैर, नंगे शरीर, युवावस्था में प्रविष्ट होता रूप का अम्बार युवक अरणिक मुनि पात्रों की झोली लेकर अन्य साधुओं के साथ भिक्षार्थ निकला। भिक्षा कैसे माँगनी और किस प्रकार प्राप्त होगी, इन सब विचारों में उलझता हुआ वह अपने आश्रय-स्थल के बाहर निकला, परन्तु अंगारे बरसाने वाली ग्रीष्म ऋतु ने उसे कदम-कदम पर रुकने के लिए विवश कर दिया। साथी साधु तो धूप के अभ्यस्त होने के कारण शीघ्रता से आगे निकल गये। अरणिक अकेला पड़ गया।

थोड़े धूप में तो थोड़े छप्पर की छाया में चलकर अरणिक आगे बढ़ा। इतने में उसका गला सूखने लगा, पाँव जलने लगे और सिर तपने लगा। उस समय उसने सामने एक



धूप से अभ्यस्त साथी साधु आगे निकल गए, जबकि अरणिक अकेला पड़ गया।

हवेली के नीचे छाया देखी। शीघ्रता से चल कर अरणिक छज्जे के नीचे आकर खड़ा हो गया। इस समय अरणिक के अन्तर में अनेक विचार उठे। पिता सिर-छत्र कहलाते हैं उसका वास्तविक ध्यान तथा संसार में जीवन-नौका चलाना कितना कठिन है - इस सबका उसे अनुभव होने लगा।

ज्यों-ज्यों समय व्यतीत हो रहा था, त्यों त्यों धूप बढ़ रही थी, भूमि अत्यन्त तप रही थी। अरणिक आगे बढ़ने की इच्छा करता परन्तु धूप की गर्मी उसके पाँवों को आगे बढ़ने नहीं देती। इतने में एक दासी आई और कहने लगी, 'महाराज! भीतर आइये।'

अरणिक ने समझा कि किसी श्रावक का घर होगा, भिक्षा के लिए बुला रही है।

अरणिक भवन में प्रविष्ट हुआ। भवन स्वामिनी जिसका पति परदेश गया हुआ था, वह युवा स्त्री हाथ जोड़ कर सामने खड़ी रही और मुनि उसके भवन में नहीं, परन्तु मानो उसके अन्तर् में प्रविष्ट हुए हों ऐसा मान कर कहने लगी, 'आपको किसी वस्तु की आवश्यकता है?'

मुनि ने नीचे दृष्टि किये हुए कहा, 'मैं भिक्षार्थ निकला हूँ।'

स्वामिनी ने दासी को संकेत करके उत्तम लड्डू मँगवाये और साधु के पात्र में डाल दिये।

'महाराज! धूप अत्यन्त प्रचण्ड है। आप उपाश्रय में कहाँ जायेंगे? निकटवर्ती कक्ष में बैठ कर गोचरी कर लो। यहाँ स्थान का अभाव नहीं है।'

धूप से तंग हुए मुनि भामिनी के घर के एक कोने में बैठ कर गोचरी करने का विचार कर ही रहे थे कि वह बोली, 'महाराज! इस अल्प आयु में आपने संयम क्यों अङ्गीकार किया? धूप, ठण्ड, घर-घर भटकना, मलिन वेष, क्या यह सब सुख है? सुख चाहिये? वह सब यहाँ प्राप्त होगा और इतने समय तक दीक्षा (संयम व्रत) का पालन किया उसका फल यहाँ मेरे साथ रह कर भोगों। देखो यह घर, यह ऋद्धि, यह परिवार, मैं और सर्वस्व आपका है। फिर भी आपका चित्त संयम में ही रमण करता हो तो भोगों का उपभोग करके फिर भले ही संयम-पथ पर अग्रसर हो जाना। यह युवावस्था, यह रूप-लावण्य, सब क्यों असमय में नष्ट करते हो?'

भामिनी की कोयल की कुहुक तुल्य वाणी एवं उसके हाव-भावों ने अरणिक का चित्त क्षुब्ध कर दिया और वे उसमें उलझ गये।

### (३)

घड़ी पर घड़ी वीतती गयी परन्तु अरणिक उपाश्रय में नहीं आया। साधुओं ने स्थान-स्थान पर खोज की तो भी अरणिक मुनि का पता न लगा।

अरणिक भिक्षार्थ गये थे, परन्तु लौटकर नहीं आये - ये समाचार अन्त में अरणिक मुनि की माता भद्रा साध्वी को मिले।

इकलौते पुत्र को लाड-प्यार से पाल-पोस कर बड़ा करके विरक्त अन्तःकरण से दीक्षित भद्रा ने 'किसका पुत्र और किस का भाई?' यह सब बहुत सोचा, फिर भी चित्त ठिकाने नहीं रहा।

उसने स्थान-स्थान पर पूछ-ताछ की। किसी ने बताया 'मुनि यहाँ होकर निकले थे, परन्तु कहाँ गये यह मालूम नहीं है', किसी ने कहा, 'धूप से जलते, प्यास से तड़पते मैंने उन्हें खड़े देखा था परन्तु फिर आगे बढ़ कर वे किस मार्ग से गये उसका पता नहीं है।'

साध्वी उपाश्रय में आई। उसके सामने पूर्व के चित्र खड़े हो गये। 'पुत्र के तथा हमारे सुख के लिए दीक्षा ग्रहण की। पुत्र को क्या संयम कठोर लगा होगा? क्या वह दीक्षा छोड़ कर चला गया होगा? नहीं, नहीं, खानदान कुल का मेरा पुत्र क्या दीक्षा छोड़ेगा? यह कैसे हो सकता है? संसार से अपरिचित उसे क्या किसी भामिनी ने फुसलाया होगा? हे अरणिक! तूने कुल कलंकित किया और दीक्षा छोड़ी। हमारे द्वारा सोचे हुए तेरी आत्मा के उद्धार के वजाय तूने स्वयं को पतन के मार्ग पर मोड़ दिया?'

अरणिक के अधःपतन में दोषी मैं हूँ अथवा अरणिक? वह तो विचारा बालक था। मैंने उसके हृदय की परीक्षा नहीं की, उसकी युवावस्था का विचार नहीं किया। माता होकर मैंने पुत्र को संयम-विघातक बना कर भवो-भव भटकाया। उसका क्या होगा? संसार में वह कितने भव संयम-विराधक बनकर निकलेगा? और मैं भी क्या संयम-विराधक नहीं हूँ? अरणिक! अरणिक! तूने यह क्या किया?' इस विचार में भद्रा साध्वी धीरे धीरे होश खो बैठी।

गली-गली, बाजार में और चौराहों पर 'ओ अरणिक! ओ अरणिक! पुकारती हुई भद्रा साध्वी घूमती हैं। बालकों और लोगों के समूह उनके पीछे चलते हैं। मार्ग में जो मिलता है उसे वे पूछती हैं - 'भाई, किसी ने देखा है मेरा अरणिया? युवक, छोटा, सुन्दर साधु अरणिक था, क्या उसे तुमने देखा है?' कोई हँसता है तो कोई दूर हट जाता है।

गाँव में कोई साध्वी को देख कर संसार की विचित्रता, तो कोई 'माता-पिता सोचे समझे बिना छोटे बालकों को दीक्षा दें तो और क्या होगा' ऐसी धर्म-निन्दा करते हैं, परन्तु साध्वी तो 'ओ अरणिक! ओ अरणिक!' कहती हुई चिल्लाती हैं। वह प्रत्येक घर की खिडकियों, झरोखों एवं कक्षों की ओर दृष्टि डालती हैं और यदि अरणिक जैसी आकृति दिखाई दे तो दौड़ कर जाकर देखती है और जब वह अरणिक नहीं

निकलता तो मन मसोस कर पछाड़ें खाती है।

एक बार अरणिक एवं भामिनी झरोखे में आनन्द से बैठे थे, तब लोगों के समूहों के साथ 'अरणिक! अरणिक!' करती हुई साध्वी को अरणिक ने देखा। उसकी आँख स्थिर होने पर और पल भर में शोक-मग्न होने पर भामिनी ने उसे कहा, 'चलो भीतर, इसमें क्या देखना है?' अरणिक की दृष्टि स्थिर हो गई माता को पहचानते ही वह तुरन्त सीढियों से नीचे उतर गया।

भामिनी उसके पीछे दौड़ी, 'कहाँ जा रहे हो? कहाँ जा रहे हो?' कहती रही और अरणिक नंगे पैर, नंगे सिर समूह के मध्य चिल्लाती हुई, लोगों की दृष्टि में पागल गिनी जाने वाली साध्वी के चरणों में जा गिरा और कहने लगा, 'ये रहा माता! मैं तुम्हारे कुल को कलंकित करने वाला, कुल को लज्जित करने वाला, संयम-भ्रष्ट होने वाला पापी अरणिक!'

'पुत्र! यह तूने क्या किया?'

'पूज्य आर्य! मैंने कुछ नहीं किया, पापी विषय-वासना ने मुझे भ्रष्ट किया है। वासना से मेरा भान लुप्त हो गया, कुल की मर्यादा भूला दी और मैं अन्धा बन गया। तुम्हारे सामने खड़े रहने में भी मुझे लज्जा आ रही है।'

'वत्स! चारित्र-भ्रष्ट होना तेरे लिए उचित नहीं है।'

वह चारित्र जो शिव-सुख का सार है। तू उपाश्रय में चल और पुनः संयम प्रहण



ये रहा माता! मैं तुम्हारे कुल को कलंकित करने वाला,  
कुल को लज्जित करने वाला संयम भ्रष्ट होने वाला पापी अरणिक!

कर।'

'माता! संयम के बिना सिद्धि नहीं है, परन्तु संयम तो तलवार की धार है, उसके परिपह मुझसे सहे नहीं जाते।'

'परन्तु क्या संयम के बिना उद्धार है?'

'नहीं माता! मेरे जैसे संयम-भ्रष्ट व्यक्ति का तो किसी तरह उद्धार नहीं है। तू कहे तो मैं अनशन करूँ, परन्तु प्रतिदिन के परिपह सहन करना तो अस्थिर चित्तवृत्ति वाले मेरे लिए अत्यन्त कठिन है।'

'तो क्या अनशन सरल है?'

'माता! भले अनशन सरल न हो, परन्तु मैं संयमभ्रष्ट व्यक्ति लोगों की अंगुलियों से बताया जाऊँ कि 'यह अरणिक! जिसने संयम छोड़ दिया था' उसकी अपेक्षा अनशन करके अल्प समय में मैं अपने घोर पाप का अन्त करूँ तो कैसा रहेगा?'

साध्वी का सांसारिक पुत्रमोह नहीं था। उसे तो मेरा पुत्र संयम लेकर उसकी विराधना करे और भवो भव भटके? उसका दुःख था। अतः उसने कहा, 'अच्छा पुत्र! अनशन करके आत्मकल्याण कर।'

अरणिक उपाश्रय में लौट गया, लज्जित हुआ और पुनः गुरुदेव से दीक्षित होकर उसने अनशन किया।

कर्म राजा ने जिस शस्त्र से अरणिक को पुनः संसार में प्रवृत्त किया था, लौटाया था उस शस्त्र के विरुद्ध अरणिक ने पूर्ण सावधानी से संघर्ष किया और उसमें वह सफल हुआ। चिलचिलाती धूप से धधकती चट्टान पर ही उसने अनशन किया।

धूप को परिपूर्ण रूप से शरीर पर पड़ने दिया, देह से पसीने की धाराएँ निकलीं। चमड़ी चटक गई, रक्त की धारा वह निकली और तत्पश्चात् हड्डियाँ और माँस बाहर निकले, फिर भी अरणिक मुनि स्थिर रहे और उनका देहान्त हो गया। वे देवलोक में गये।

साध्वी माता ने सुना कि उसका पुत्र अरणिक अनशन करके स्वर्गगामी हुआ। पुत्र के लिए गली-गली में घूमने वाली भद्रा साध्वी को यह सुनकर सान्त्वना मिली और जिसके सुख के लिये वे तरसती थी, उस पुत्र ने सुख प्राप्त किया जिसका उन्हें हर्ष हुआ।

इस प्रकार अरणिक मुनिवर ने विनय, परिपह-सहन एवं लज्जा- इन तीनों गुणों का आदर्श जगत् के समक्ष प्रस्तुत किया तथा भद्रा माता ने पुत्र का कलंकित जीवन से उद्धार करके हँसते हुए उसे अनशन करने की अनुमति प्रदान करके एक सच्ची माता का आदर्श जगत् के लिये प्रस्तुत किया। भद्रा माता एवं अरणिक मुनिवर दोनों उपदेशमाला,

उत्तराध्ययन, ऋषिमण्डल वृत्ति आदि अनेक ग्रन्थों में गाये गये।

(४)

आज तो अरणिक मुनिवर अथवा भद्रा माता नहीं हैं, परन्तु सहरत्रों भक्तों की जवान पर उन दोनों के नाम सज्जाय के द्वारा रटन होते हुए जगत् में अपने गुण-कीर्तन से अमर हैं। आइये, हम भी उनका गुण-गान करें-

अरणिक मुनिवर चाल्या गोचरी, तड़के दाझे शीशो जी।

पाय अडवाणे रे वेलु परजले, तन सुकुमाल मुनिशोजी।।

मुख करमाणुं रे मालती फूलज्युं, ऊभो गोख नी हेठो जी।

खरे वपोरे रे दीठो एकलो, मोही मानिनी दीठो जी।।

वयण रंगीले रे नयणे वीधीयो, ऋषि थंभ्यो तेणे ठाणोजी।

दासी ने कहे जा रे उतावली, ऋषि तेडी घर आणोजी।।

पावन कीजे रे ऋषिघर-आंगणुं, वोहरो मोदक सारो जी।

नव जोवन रस काया कां दहो, सफल करो अवतारो जी।।

चंद्रवदनीये चारित्र थी चूकव्यो, सुख विलसे दिन-रातो जी।

वैठो गोखे रे रमतो सोगठे, तव दीठी निज मातोजी।।

अरणिक अरणिक करती मा फरे, गलिये गलिये वजारो जी।

कहो केणे दीठो रे म्हारो अरणियो, पूंठे लोक हजारो जी।।

हूँ कायर छुं रे म्हारी मावडी, चारित्र खांडा नी धारो जी।

धिग धिग विपया रे माहरा जीवने, में कीधो अविचारो जी।।

गोख थी उतरी रे जननी ने पाय पड्यो, मनशुं लाज्यो अपारो जी।

वत्स तुझ न घटे रे चारित्र थी चूकवुं, जेहथी शिव सुख सारो जी।।

एम समजावी रे पाछो वालियो, आण्यो गुरु नी पासे जी।

सतगुरु दिये रे सीख भली परे, वैरागे मन वासो जी।।

अग्नी धिखंती रे शिल्ला ऊपरे, अरणिके अणशण कीधुंजी।

‘रूपविजय’ कहे धन्य छे मुनिवरू, जेणे मनवंछित लीधुं जी।।

(८)

कच्चे सूत का बन्धन अर्थात्

## आर्द्रकुमार का वृत्तान्त

(९)

आर्द्रक देश अर्थात् वर्तमान समय में जहाँ काबुल है वह स्थान, जहाँ आर्द्रक राजा राज्य करता था। राजा के आर्द्रकुमार नामक एक गुणवान पुत्र था।

एक बार आर्द्रक राजा की राज्य-सभा में राजगृही से राजा श्रेणिक के मन्त्री आये और आर्द्रक राजा के चरणों का स्पर्श करके श्रेणिक राजा द्वारा प्रेषित कतिपय उपहार प्रस्तुत करके कहने लगे, 'राजन्! न तो आपने हमारे राजाजी को देखा है और न आपको हमारे राजाजी ने देखा, फिर भी आपका पारस्परिक प्रेम अपूर्व है। हमारे देश की उत्तम उत्तम वस्तुएँ आपको प्रेषित करने के लिए हमारे राजाजी सदा रटन लगाते हैं और किसी भी उत्तम वस्तु का उपयोग करने से पूर्व आपका स्मरण करते हैं।'

आर्द्रक राजा के मन में श्रेणिक के इस स्नेह के लिए सम्मान उत्पन्न हुआ। उसने मंत्रियों का अत्यन्त सत्कार किया और कहा, 'श्रेणिक जैसे राजा की मित्रता को मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ। मैं आपको अपने देश की ये कतिपय वस्तुएँ प्रदान करता हूँ, जिन्हें आप मेरे मित्र को प्रदान करना।'

राज्यसभा में आसीन आर्द्र कुमार ने तुरन्त मंत्रियों को पूछा, 'मंत्रिवर! आपके राजा के पुत्र का नाम क्या है?'

उन्होंने कहा, 'हमारे श्रेणिक महाराज के ज्येष्ठ पुत्र अभयकुमार हैं। वे महान् बुद्धिमान हैं। राज्य के पाँच सौ मंत्रियों में वे मुख्य मंत्री का कार्य सम्हालते हैं।'

यह सुनकर आर्द्रकुमार ने श्रेणिक के मंत्रियों से कहा - "पिताजी श्रेणिक राजा के मित्र हैं उसी प्रकार मैं अभयकुमार का मित्र बनता हूँ। मैं जो उपहार देता हूँ वे आप उन्हें मेरी ओर से दे देना।" यह कह कर उसने भी अनेक बहुमूल्य वस्तुएँ अभयकुमार को देने के लिए मंत्रियों को दी।

मंत्रियों ने आर्द्रक राजा के उपहार महाराज श्रेणिक को और आर्द्र कुमार द्वारा प्रेषित उपहार अभयकुमार को दिये।

(२)

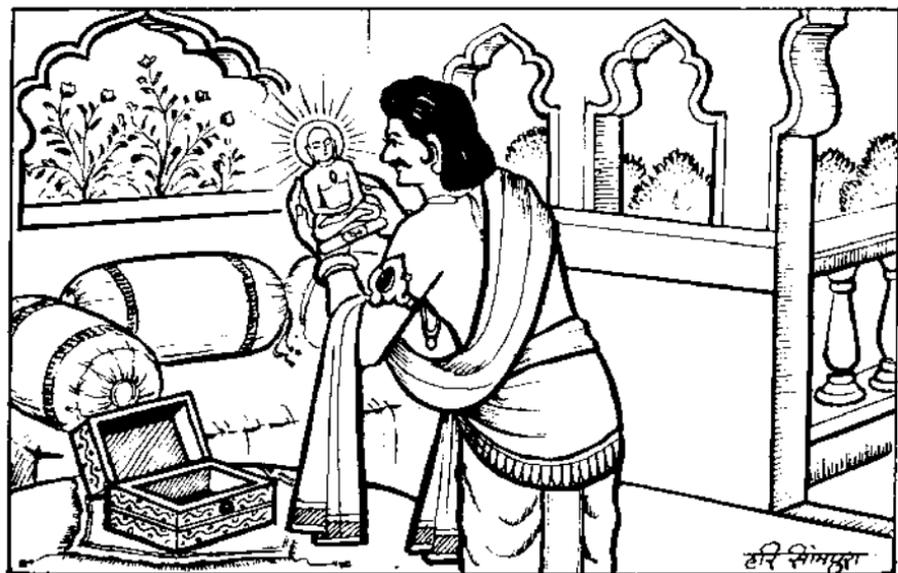
अभयकुमार बुद्धि-निधान एवं वैराग्यमय अन्तःकरण का था। उसे विचार आया कि आर्द्रकुमार मेरा मित्र बना है तो मुझे सच्चे मित्र के रूप में उसे हितमार्ग में लगाना

चाहिये और सच्चा हित किसी को धर्म में प्रेरित करना ही है। उसने उपहार स्वरूप भेजने के लिये विभिन्न वस्तुओं के विषय में अनेक विचार किये, परन्तु उन सबको अलग छोड़ कर वीतराग परमात्मा की एक सुन्दर प्रतिमा बना कर एक सुन्दर मंजूषा में बन्द करके मन्त्री को दी, जो पुनः पिता के उपहार देने के लिये आर्द्रक देश जा रहे थे उन्हें मंजूषा सौंपते हुए यह भी कहा, 'आर्द्रकुमार को कहना कि वे इस उपहार को गुप्त रूप से देखें।'

श्रेणिक के मन्त्री पुनः आर्द्रक देश गये। उन्होंने श्रेणिक महाराज का उपहार आर्द्रक राजा को दिया और अभयकुमार की मंजूषा आर्द्र कुमार को देते हुए कहा कि, 'आपके मित्र ने आपके लिये जो उपहार मंजूषा में बंद करके भेजा है उसे गुप्त रूप से खोलकर देखने का कहा है।'

आर्द्रकुमार अपने निवास पर आया, द्वार बन्द किया और मंजूषा खोलने से पूर्व उसने अनेक तर्क-वितर्क किये, - 'मंजूषा में ऐसा क्या होगा कि मित्र ने गुप्त रूप से देखने को कहा? क्या भारत के ऋषि-मुनि की कोई अप्राप्य प्रसादी होगी? अथवा भारत समृद्ध देश गिना जाता है तो उसका कोई अमूल्य अलंकार अथवा कोई सुन्दर फल होगा जो अन्य किसी को प्रदान नहीं किया जा सकता और कोई उसे देख न सके और उसके विषय में जान न सके इसलिए इस प्रकार भेजकर गुप्त रूप से देखने के लिए कहा।'

उसने मंजूषा खोली तो भीतर से भगवान की जगमग करती प्रतिमा निकली। प्रतिमा



आर्द्रकुमार ने मंजूषा खोली तो भीतर से भगवान की जगमगती प्रतिमा निकली.

देखकर आर्द्रकुमार को कुछ भी पता नहीं लगा। उसने इस स्वर्णनिर्मित मानव आकृति को आभूषण समझा और विचार करने लगा कि 'इसे भारतवासी गले में बाँधते होंगे अथवा कहाँ पहनते होंगे? है तो यह स्वर्ण, स्वर्ण आभूषण के रूप में सर्वत्र उपयोगी होता है यह बात विख्यात है। ऐसा आभूषण हमारे यहाँ तो नहीं है। मैं मित्र द्वारा प्रेषित उपहार का कैसे उपयोग करूँ? चल कर, मंत्रियों से पूछूँ कि यह आभूषण कहाँ पहना जाता है? परंतु मित्र ने किसी को वताने का स्पष्ट निषेध किया है और उनसे भी गुप्त रीति से भेजा हो तो मैं किसलिये प्रकट करूँ?' आर्द्रकुमार ने विचार-विचार कर प्रतिमा को घुमाया। ज्यों-ज्यों उसके सम्यन्ध में विचार करता गया, त्यों-त्यों उसका मस्तिष्क अधिक चिन्तन-ग्रस्त होता गया। और कुछ ही समय में अचेतन हो गया। यह मूर्च्छा चिन्तन से हुए जातिस्मरण ज्ञान के कारण थी।

### (३)

कक्ष वन्द था। वायु की शीतल लहरों से कुछ समय पश्चात् मूर्च्छा हटने पर वह उठ बैठा और मन ही मन कहने लगा, 'अभय! तू मेरा सच्चा मित्र है। तूने मित्र के सच्चे हित की परीक्षा की। यह तो जिनेश्वर भगवान का तारणहार प्रतिविम्ब है। मैं पूर्व भव में मगध देश के वसन्तपुर गाँव में 'सामयिक' नामक किसान था। मेरी पत्नी का नाम 'बन्धुमती' था। हमें एक बार संसार से वैराग्य हो गया और हम दोनों ने आचार्य श्रीधर्मघोषसूरि से दीक्षा अंगीकार की थी।

बन्धुमती साध्वियों के साथ विहार करने लगी और मैं धर्मघोषसूरि के साथ विचरने लगा।

विहार करते करते हमारा परस्पर मिलाप हुआ। मेरी दृष्टि बन्धुमती की दृष्टि से मिलकर एक हुई, परन्तु उसने तुरन्त दृष्टि नीची कर ली। उसकी दृष्टि में लज्जा, वैराग्य का तेज एवं दृढ़ता का खमीर था। वह तुरन्त चली गई, परन्तु मैं काम-विह्वल हो गया। मुझे अपने पूर्व गृहस्थ जीवन का स्मरण हुआ। मेरे मन में पुनः बन्धुमती का उपभोग करने की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई, मैं तप, त्याग भूल गया और पुनः गृहस्थ बनने के लिए तत्पर हो गया।

यह सब बात बन्धुमती को ज्ञात हो गई। उसके मन में विचार आया कि 'मैं उनके पास जाकर एक बार उन्हें समझाऊँ कि चिन्तामणी रत्न तुल्य यह चारित्र्य क्यों फेंक रहे हो? वमन किये हुए अन्न के समान मुझे त्याग कर अब पुनः मेरे साथ भोग-विलास की भावना लाकर आप क्यों अपना पतन कर रहे हो? त्याग, तप से विशुद्ध बनी देह को पाप-पंक में डुवोकर क्यों मैले (दूषित) बनाते हो?

मदिरा! मानव को उन्मत्त बना देती है उसी प्रकार से विषय भी मानव को पागल

वनाते हैं। विपयी व्यक्ति को न हित-अहित का भान होता है और न ही समझ होती है? मैं उन्हें जो कहूँगी वह सब राख में घी डालने के समान है। शुष्क राख घी डालने से चिकनी नहीं बनती, उसी प्रकार संयम से च्युत एवं विपयासक्त वे मेरे वचनों से सही राह पर नहीं आयेंगे। मेरा दर्शन ही उनके त्याग में अन्तराय रूप सिद्ध हुआ। मैं सदा के लिए किस प्रकार उनकी आदर्श वनूँ? मैं जहाँ जाऊँगी वहाँ भौंरा जिस प्रकार पुष्प के पीछे घूमता है उसी प्रकार वे मेरे पीछे घूमते रहेंगे। वे स्वयं अपनी अपकीर्ति करेंगे, मेरी अपकीर्ति करेंगे और जैनशासन की अपकीर्ति करेंगे। क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? इन सब विचारों में घिरी हुई बन्धुमती साध्वी ने अनशन करके देह त्याग दी।

बन्धुमती साध्वी परलोक गमन कर गई और वह भी केवल मेरे लिए - यह बात मैंने (सामयिक) ने सुनी तो ज्यों दुर्गन्ध से भूत भागता है त्यों मेरे हृदय से काम-वासना लुप्त हो गई। मेरी देह धर-धर काँपने लगी, 'अरे! मुझे पापी ने बन्धुमती के प्राण लिये और उसने मेरी संयम-रक्षा के लिए अपने प्राण दे दिये।'

'बन्धुमती! तूने सच्चे सती-व्रत का पालन किया। सती नारियाँ मृत पति के पीछे मरती हैं परन्तु तूने तो संयम से मृत मेरे पीछे प्राण देकर मुझे जीवित किया; परन्तु बन्धुमती! तेरे जैसी साध्वी की हत्या कराने वाला मैं कब मुक्त होऊँगा? मैं महापापी हूँ! क्रूर हूँ! साध्वी का हत्यारा हूँ!'

मैंने संयम की विराधना की थी। उसके प्रायश्चित स्वरूप अन्न-जल का त्याग किया फिर भी संयम की विराधना के कारण मैं मर कर अनाय देश में उत्पन्न हुआ।'

(४)

तत्पश्चात् आर्द्रकुमार ने प्रतिमा की पूजा की और पुनः संयम ग्रहण करके कल्याण करने का संकल्प किया।

आर्द्रकुमार का हृदय परिवर्तन हो गया, हाव-भाव में परिवर्तन हो गया और जीवन व्यवहार में परिवर्तन हो गया। वह भारत-भूमि में अभयकुमार को मिलने के लिए लालायित हुआ। उसने पिताजी को कहा, 'पिताजी! आपके मित्र श्रेणिक हैं उसी प्रकार मेरे मित्र अभयकुमार हैं। उनसे मिलने की मेरी उत्कट अभिलाषा है। मुझे एक बार भारत जाने की आप अनुज्ञा प्रदान करें।'

राजा ने कहा, 'वत्स, तू जानता है कि तू हमारा इकलौता पुत्र है। मैं तुझे अपने से दूर नहीं कर सकता। तू यहाँ रहकर परस्पर उपहार भेज कर अपने प्रेम में वृद्धि कर। चन्द्रमा एवं सागर भिन्न हैं फिर भी उनका प्रेम कैसा निर्मल है? प्रेम की निर्मलता के लिए पास ही रहना ऐसा कोई नियम नहीं है।'

उनकी यह बात आर्द्रकुमार को अच्छी नहीं लगी यह राजा समझ गया, परन्तु पुत्र

को भेजना उसके लिए असम्भव था। अतः मंत्रियों को विदा दी और पाँच सौ सैनिकों को पुत्र का ध्यान रखने का निर्देश दिया।

प्रारम्भ में तो राजा द्वारा प्रेषित रक्षकों ने आर्द्रकुमार की पूर्ण रूपेण निघरानी रखी। आर्द्रकुमार जहाँ जहाँ जाता वहाँ वहाँ वे उनके पीछे जाते और कुमार तनिक भी अलग न पड़ जायें, इस बात का वे अच्छी तरह ध्यान रखते; परन्तु दिन व्यतीत होते होते कुमार ने उनके मन में विश्वास विठा दिया। वह अश्व दौड़ाता हुआ कभी कभी उनसे अलग पड़ जाता तो कभी कभी नावें तैराता हुआ दूर निकल जाता। परन्तु लौटकर कभी एक घड़ी में तो कभी दो घड़ी में रक्षकों को मिलता। इससे समस्त रक्षक निश्चिन्त हो गये।

आर्द्रकुमार ने अब सोचा कि दो-तीन घड़ीयों का अन्तर मेरे लिए पर्याप्त है। एक वार वह नाव में बैठा और उसे भारत की ओर चला दी। जैसे ही उसने भारत के किनारे पर पाँव रखा, वैसे ही हृदय में अनेक विचार उत्पन्न होने लगे। जिस अभयकुमार को मिलने की अभिलाषा से उसने अपना देश छोड़ा था, वह बात उसके लिए अब अधिक महत्त्व का नहीं रही।

उसके मस्तिष्क में एक ही बात घूमने लगी कि, 'मैंने पूर्व भव में संयम की विराधना की और मैं प्राप्त मानव भव को हार गया। मैं अब इस भव में क्यों विलम्ब करूँ? यहाँ मुझे थोड़े ही पिताजी संयम ग्रहण करने से रोकने वाले हैं? उसने प्रतिमा किसी को सौंप दी और वह संयम ग्रहण करने के लिए तत्पर हो गया। इतने में आकाश में से ध्वनि आई, 'कुमार! रुक, संयम ग्रहण करने में तेरे लिए अभी भोगावली कर्म वाकी है। अभी तो तुझे संसार के आनन्द लेने शेष हैं।'

कुमार ने चारों ओर देखा, कोई नहीं दिखाई दिया। अतः उसने सोचा कि मेरी कायरता ही मुझे ऐसी ध्वनि सुना रही है। उसने तुरन्त स्वयं ही साधु-वेप धारण किया और धरा पर विहार प्रारम्भ कर दिया।

### (५)

'यह मेरा पति - यह मेरा पति' कहती हुई वृक्ष के तने को पकड़ती हुई चार-पाँच सहेलियाँ के साथ खेलती हुई श्रीमती ने वसन्तपुर नगर के उद्यान में कायोत्सर्ग ध्यान में स्थित आर्द्र मुनि का चरण पकड़ा तो गगन में तुरन्त ध्वनि आई कि 'वाला! पति तो तूने अच्छा पसन्द किया।' वाला ने ऊपर देखा तो एक मुनि कायोत्सर्ग ध्यान में थे। उनके चक्षु वन्द थे, देह स्थिर थी। वाला ने अपने हाथ हटा लिये। सहेलियाँ हँस पड़ी और बोली कि, 'अब तो तू इसके साथ ही विवाह करेगी न?'

खेल-खेल में घटित कितनी ही सामान्य वार्ते अनेक व्यक्तियों के जीवन के मार्ग बदल

देती हैं, उसी प्रकार श्रीमती को यह बात सामान्य प्रतीत नहीं हुई। उसने निश्चय कर लिया कि जिसको मैंने सबके समक्ष कह दिया कि, 'यह मेरा पति', वही अब मेरा पति होगा।

मुनि ने विहार कर लिया और अब आकाशवाणी की घोषणा - 'संयम में अभी समय है' वह उनके हृदय में गूँजने लगी। 'क्या मैं संयम से पुनः च्युत होऊँगा? क्या मैं निर्वल बन कर पुनः अपना अधःपतन करूँगा? नहीं-नहीं, यह कदापि नहीं होगा।' उन्होंने कठोरता पूर्वक दमन प्रारम्भ किया और कठोर तप प्रारम्भ किया।

श्रीमती के पिता एक धनी सेठ थे। वह सुलक्षणी एवं रूप-लावण्य की सजीव प्रतिमा थी। अनेक श्रेष्ठियों की ओर से माँग आई, परन्तु श्रीमती ने तो पिता को कह दिया कि 'पिताजी, मुँह से बोल कर मैंने जिसको पति मान लिया वही मेरा पति है और इस भव में तो मुनि के अतिरिक्त अन्य के साथ मैं विवाह नहीं करूँगी।'

पिता ने कहा, 'पुत्री! ये तो मुनि हैं, कंचन-कामिनी के त्यागी।'

'पिताजी, आप ठीक कहते हैं, परन्तु मुझे उनके अतिरिक्त कोई विचार ही नहीं सूझता।'

'पुत्री! यदि वे पुनः यहाँ आ जायें तो तू उन्हें थोड़े ही पहचान सकेगी?'

'पिताजी! मैं अवश्य ही पहचान सकूँगी। उनके पाँव में पद्म था जिसे मैंने अच्छी तरह निहारा था। पाँव अथवा हाथ की रेखाएँ सभी के हाथ में होती हैं, परन्तु किसी



सहेलियों के साथ 'यह मेरा पति' खेल खेलती हुई श्रीमती ने  
कायोत्सर्ग में स्थिर आर्द्र मुनि के चरण पकड़ लिए.

के हाथ अथवा पाँव समान नहीं होते, और न उनकी रेखाएँ समान होती है।'

पिता की अनुमति से दानशाला का कार्य श्रीमती ने सम्हाला। हजारों याचकों, अभ्यागतों एवं सन्तों को उसने दान दिया। उनके चरणों का अवलोकन किया परन्तु उन मुनि के चरण-कमल नहीं मिले।

### (६)

एक दिन तप-कृश आर्द्र मुनि घूमते-घूमते वसन्तपुर के बाहर स्थित उस दानशाला में आये। श्रीमती ने नीचे मुँह रख कर मुनि को भिक्षा दी और पाँव पहचानने पर उनके सामने दृष्टि की। दोनों की दृष्टि स्थिर हुई। तप से शुष्क बनी मुनि की आँख स्नेहमयी बनी। शुष्क नसों में चेतना उत्पन्न हुई और अत्यन्त नियन्त्रण रखने पर भी मन नियन्त्रण में नहीं रहा, क्योंकि पूर्व भव का बन्धुमती का प्यार मरते-मरते हृदय में से मिटाया नहीं था। अन्त में बन्धुमती में से श्रीमती बनी श्रेष्ठी-पुत्री के साथ उन्होंने गृहस्थ जीवन प्रारम्भ किया और आकाशवाणी को देव-वाणी मानकर उसे सत्य ठहराया।

श्रीमती के साथ संसार चलाते आर्द्रकुमार के एक पुत्र हुआ। श्रीमती का स्नेह पुत्र की ओर उन्मुख हुआ और आर्द्रकुमार को पुनः संयम का नाद सुनाई दिया। उसने श्रीमती को कहा, 'श्रीमती! मैं अब संयम अङ्गीकार करूँगा।' उसने उन्हें समझाने के अनेक प्रयत्न किये परन्तु वे सब प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए।

श्रीमती को प्रतीत हुआ कि अब आर्द्रकुमार नहीं रुकेगा, अतः उसने चर्खे का आश्रय लिया। उसने नित्य सूत कातना प्रारम्भ किया और अपना जीवन स्वावलम्बी बनाना प्रारम्भ किया।

श्रीमती एवं आर्द्रकुमार दोनों बैठे हुए थे। उस समय उनके पुत्र ने माता को पूछा, 'माता! यह किस लिए कात रही हो?'

'पुत्र, तेरे पिता संयम अङ्गीकार करने वाले हैं, फिर अपने आधार के लिए मुझे कुछ तो श्रम करना पड़ेगा न?'

'पिताजी! क्या आप चले जाने वाले हैं? लो, अब कैसे जाओगे? इस प्रकार आर्द्रकुमार को चर्खे से कते कच्चे सूत का डोरा लपेटते हुए बालक ने कहा।

आर्द्रकुमार ने उसे छाती से लगा लिया और उसने अपने आस-पास लपेटे हुए डोरे (धागे) गिने तो वे पूरे वारह डोरे थे। कच्चे सूत के डोरे भी श्रृंखला बनने पर तोड़ने कठिन थे।

श्रृंखला के बन्धन तोड़ने के लिए बल काम आता है, परन्तु ये प्रेम-तन्तु तो बल को खड़ा होने ही नहीं देते। अतः उसने पुनः वारह वर्ष तक रुकने का निर्णय किया।

आर्द्रकुमार और वारह वर्षों तक रुके। तत्पश्चात् उन्होंने श्रीमती, पुत्र एवं सबकी

अनुमति प्राप्त कर पुनः संयम अङ्गीकार कर विहार के लिये प्रस्थित हुए।

(७)

पिता के पाँच सौ रक्षकों से उनका पुनः मिलाप हुआ।

कुमार को पहचान कर उन्होंने कहा, 'कुमार! आज तक आप कहाँ चले गये थे? हमने आपकी अत्यन्त खोज की। आपका पता न लगने के कारण हम जहाँ तहाँ भटक कर चोरी करके जीवन व्यतीत करते रहे।'

चोरों को आर्द्रकुमार ने प्रतिबोध दिया और उन्हें शिष्य बनाया।

भगवान महावीर के आगमन के समाचार सुनकर पाँच सौ शिष्यों सहित आर्द्रमुनि उनके वन्दनार्थ गये। मार्ग में गोशाला के साथ उनका वाद-विवाद हुआ। गोशाला ने आर्द्र मुनि को कहा, 'महानुभाव! पहले के वर्द्धमान महावीर भिन्न थे और ये महावीर भिन्न हैं। वे महावीर तो त्यागी, तपस्वी, निष्परिग्रही थे और ये तो सोने एवं हीरों के गढ़ों में बैठ कर मान-सम्मान स्वीकार करने वाले अन्य हैं।'

'गोशालक! छद्मस्थ महावीर को कर्मों का नाश करने के लिए उपसर्ग सहन करने पड़ते थे और उनके छद्मस्थ से वीतराग बनने पर तीर्थंकर नामकर्म के कारण उन्हें इस ऋद्धि का उपभोग करना पड़ता है। महावीर तो वे और ये एक ही हैं।'

आर्द्र मुनि आगे चले और राजगृह के समीप तापसाँ के एक आश्रम के निकट आये। ये तापस हस्ति तापसाँ के नाम से प्रसिद्ध थे। उनकी मान्यता थी कि जीवन-व्यवहार



'पिताजी! अब आप कैसे जाओगे?' आर्द्र कुमार को कच्चे सूत का डोरा लपेटते हुए बालक बोला।

में उपयोग में आने वाले प्रत्येक पदार्थ में जीव होता है। ऐसे अनेक जीवों की हत्या करने की अपेक्षा एक बड़े हाथी जैसे जीव की हत्या करके बहुत दिनों तक भोजन निर्वाह करें तो अल्प पाप लगेगा। अतः वे हाथी की हत्या करके उसके माँस से अपना निर्वाह करते थे। हाथी पर अवलम्बित जीवन व्यतीत करने वाले इन तापसों को लोग हस्ति-तापस कह कर सम्बोधित करते थे। शिष्यों के साथ मुनि ने हस्ति-तापस आश्रम में प्रवेश किया कि तुरन्त दृढ़ बन्धन से बँधा हुआ हाथी बन्धन तोड़ कर मुनि के चरणों का स्पर्श करके भाग गया। महाराजा श्रेणिक एवं अभयकुमार को यह बात ज्ञात हुई। वे तापस आश्रम में आये और मुनिवर के चरणों का स्पर्श करके बोले, 'महाराज! हाथी आपको देखते ही बन्ध तोड़ कर क्यों भाग गया?'

मुनि ने कहा, 'राजन! इस बन्धन की क्या शक्ति है? मनुष्य में भक्ति अथवा धर्म की क्रान्ति जाग्रत होती है तब उसके लिए कठिन गिने जाने वाले बन्धन सामान्य बन जाते हैं। इस हाथी ने हमको देखा और उसके हृदय में भक्ति जाग्रत होने पर क्रान्ति उत्पन्न हो गई और ये बन्धन उसने तोड़ दिये परन्तु-

न दुष्करं वारणपासमोअणं गयस्स मत्तस्स वणमि रायं।

जहाड अक्का वलिण्ण तंतुणो, तं दुष्करं मे पडिहायमोअण।।

हे राजा! हाथी का बन्धन तोड़ना इतना दुष्कर नहीं है जितना कच्चे सूत के तंतु से मुक्त होना मेरे लिए दुष्कर हो गया था।

धर्म एवं भक्ति की क्रान्ति जब हृदय में जाग्रत होती है तब राजऋद्धि अनायास ही त्याग की जा सकती है, वैभव का त्याग किया जा सकता है, महा बन्धन तोड़ा जा सकता है; परन्तु प्रेम-तन्तु के कच्चे तन्तुओं के समान गिने जाते राग-बन्धन मनुष्य से अत्यन्त बल लगाने पर भी टूट नहीं सकते।'

अभयकुमार ने पूछा, 'भगवन्! यह कैसे?'

'कुमार यह समस्त प्रताप आपका और आप द्वारा प्रेषित भगवान् की प्रतिमा का हैं। आपने मुझे आर्द्रकुमार को भगवान् की प्रतिमा प्रेषित की। मैं दीक्षित हुआ। दीक्षा छोड़कर पुनः गृहस्थ बना। मेरे पुत्र हुआ। वारह वर्ष और उसके कच्चे सूतके धागों से बँध कर रहा। कुमार! दूसरे समस्त बन्धनों की अपेक्षा राग का बन्धन महा बन्ध है, जो अच्छे-अच्छों को पलभर में पतन के गर्त में गिरा देता है और उस राग के बन्धन को तोड़ना अत्यन्त कठिन है।

तत्पश्चात् आर्द्रकुमार भगवान् महावीर के पास गये। उन्होंने भगवान् के पास विधि पूर्वक दीक्षा ग्रहण की। अनेक मनुष्यों का उद्धार किया। तत्त्व-विमुख होने वाले अनेक व्यक्तियों को समझाकर सच्चे मार्ग पर लगाया और सूयगडांग सूत्र में उनके उपदेश एवं जीवन गुम्फित बने आज भी हम निहार रहे हैं।

(सूयगडांग से)

(९)

सच्चा न्याय अर्थात्

## यशोवर्मा नृप कथा

(१)

कल्याण कटकपुर नगर में राजा यशोवर्मा राज्य करता था जो न्याय के लिए दूर दूर तक विख्यात था। नगर के मध्य में राजा का प्रासाद था जहाँ सामने ही एक बड़ा घंटा बँधा हुआ था। जब भी किसी पर अन्याय होता तब वह यह घंटा बजाता। घंट की आवाज सुनते ही राजा यशोवर्मा वहाँ आता और बजाने वाले के कष्ट का कारण सुन कर सच्चा न्याय करता था।

यशोवर्मा का न्याय ऐसा था कि उसमें किसी की चतुराई नहीं चलती थी। सच्चा न्याय करने के लिए राजा कई बार वेप बदल कर घर-घर घूमता और धन के बल पर अथवा शक्ति के बल पर अन्याय करने वालों को कड़ा दण्ड देता था। इस राजा के 'अतिदुर्म' नामक इकलौता पुत्र था, जो अत्यन्त ही पराक्रमी था।

(२)

एक बार राजकुमार अतिदुर्म अश्व दौड़ाता हुआ राजपथ पर जा रहा था। उस समय उसने कुछ दूर पर एक सद्य-प्रसुता गाय वछड़े सहित देखी। राजकुमार ने लगाम खींच कर अश्व को रोकने का प्रयत्न किया परन्तु तीव्र गति से दौड़ता अश्व रुके उतरसे पूर्व उसका पाँव वछड़े पर पड़ा और वह तड़पने लगा। राजकुमार अश्व से नीचे उतरा, वछड़े पर पानी छिड़कवाया परन्तु सुकोमल वछड़ा नहीं बचा। गाय पछाड़ें खाने लगी, आँखों से आँसू वहाने लगी। राजकुमार को अपने कृत्य पर पश्चाताप हुआ परन्तु अब क्या हो सकता था? वह राजभवन में गया।

गाय पछाड़ें खा रही थी और वछड़े के आस-पास घूम रही थी। कभी वह वछड़े को सूँघती और कभी सींग भिड़ाकर चारों पाँवों से उछलती थी। लोग यह सब दृश्य खड़े खड़े देख रहे थे। इतने में पास खड़े एक व्यक्ति ने गाय को कहा, 'राजा न्यायी है, जा, दरवार में जा और न्याय माँग कि मेरा वछड़ा राजकुमार ने मार दिया।'

(३)

मध्याह्न का समय था। राजा राज्य-कार्य से निवृत्त होकर भोजन करने के लिए बैठे ही था कि एक-दो-तीन-चार घंटे बजे। राजा ने हाथ में लिया हुआ कौर पुनः थाली में रखा, हाथ धोये और बाहर आया तो घण्टे की रस्सी में सींग लगा कर गाय घंटा

बजा रही थी। राजा गाय के समीप खड़ा रहा और गाय ने घंटा बजाना बन्द कर दिया।

राजा ने कहा, 'गौ माता! तुम्हारा अपराध किसने किया है? गाय कुछ बोली नहीं परन्तु सिंगों से मार्ग बताती चली। गाय आगे और राजा पीछे चल रहा था। राजमार्ग में लोगों के दल के दल राजा और गाय को देखते रहे। इतने में गाय वछड़े के पास आकर खड़ी रही।

खड़े हुए लोगों के समूह को राजा ने पूछा, 'इस वछड़े को किसने मारा है?

कोई कुछ भी नहीं बोला। एक प्रहर बीत गया। मंत्रियों ने राजा को कहा, 'भोजन कर लीजिये, फिर इसकी जाँच कराते हैं।'

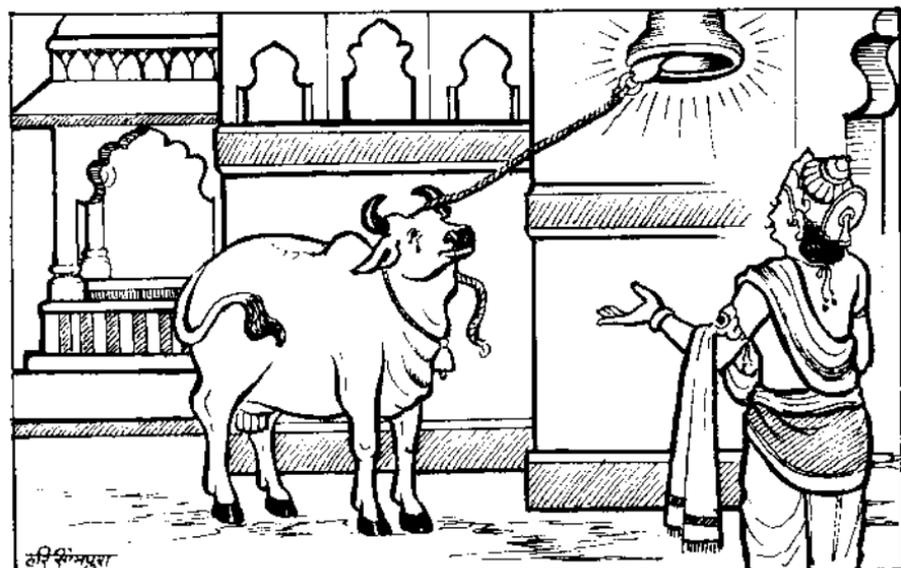
राजा ने कहा, 'न्याय हुए बिना भोजन कैसे किया जाये?'

सन्ध्या हो गई, राजकुमार पिता के पास आया, चरण-स्पर्श किये और बोला, 'पिताजी! यह अपराध मेरा है। अथ दौड़ाते समय वछड़ा मेरे द्वारा मारा गया है।'

राजा अधिक उदार एवं गम्भीर हो गया, क्योंकि आज तक के न्याय की सच्ची कसौटी (परीक्षा) आज थी।

प्रातः काल हुआ। राज्यसभा एकत्रित हुई, विद्वानों को निमन्त्रित किया गया। राजा ने कहा, 'विद्वद्भ्यः! इसका जो उचित न्याय हो वह बतायें।'

विद्वानों में एक विद्वान बोला, 'राजन्! न्याय करना तो ठीक है परन्तु आपका यह इकलौता पुत्र है और वह राज्य का आधार है। यह सब विचार तो करना पड़ेगा न? राजपुत्र को क्या दण्ड दिया जाये?'



न्याय प्रिय राजा यशोवर्मा ने न्याय मांगने के लिए घण्टे की रस्सी में सिंग लगा कर घंटा बजाने हुए गाय को देखा.

‘विद्वद्धर्ष! ऐसा मत कहो। मेरा पुत्र है यह मत सोचो। किरिी अन्य का पुत्र हांता तो आप दण्ड देने का कहते अथवा नहीं? शास्त्र क्या कहता है वह विचार करो।’

विद्वान मौन रहे। वे एक दूसरे के मुँह ताकने लगे राजा अधिक गम्भीर होकर बोला, ‘आप स्मृतियों का पाठ स्मरण करो। उसमें उल्लेख है कि - ‘राजपुत्र का अपराध हो तो भी दण्ड दे।’ विद्वानों ने कहा, ‘महाराज! बात सत्य है परन्तु...’

‘परन्तु नहीं, न्याय एक ही होता है। सभी मनुष्य समान हैं। आप तो उत्तर दो कि अपराध का दण्ड क्या?’

‘राजन्! हम यहाँ क्या कहें? आप ही सोचें।’

‘देखो तब, मैं तो विचार करता हूँ कि राजकुमार ने वछडे पर अश्व चलाया, तो मैं राजकुमार को मार्ग में सुलाकर उस पर अश्व चलाने की आज्ञा देता हूँ।’

मंत्रियों, विद्वानों एवं राज्य-सभा में स्थित अन्य सभी लोगों ने कानों पर हाथ रखे और उनके नेत्रों में आँसू आ गये।

‘सेवको! जाओ, राजकुमार को जहाँ वछड़ा मर गया था वहाँ सुलाओं और अश्व दौड़ाते हुए उसके पेट के ऊपर से ले जाओ।’

सेवक स्तब्ध रह गये। राजा ने दूसरी बार, तीसरी बार आदेश दिया परन्तु इस कार्य को करने के लिए कोई आगे नहीं आया।

राजा स्वयं अश्व पर सवार हुआ और अश्व दौड़ाते हुए राजमार्ग पर लेटे हुए राजकुमार के ऊपर अश्व चलाया। इतने में आकाश में से पुष्प-वृष्टि हुई और ध्वनि आई, ‘धन्य यशोवर्मा! धन्य तेरा न्याय! न तो यह गाय है और न वछड़ा। यह तो राज्य-कुलदेवी ने गाय एवं वछडे के द्वारा तेरे न्याय की परीक्षा की है।’ (उपदेश सन्नतिका से)



राजा स्वयं अश्वरुढ होकर अश्व दौड़ाता हुआ राजमार्ग पर लेटे हुए राजकुमार के ऊपर अश्व चलाया।

## मेघकुमार का कथानक

श्रेणिक के दरवार में महाराजा श्रेणिक को नमस्कार करके वनपालक ने वधाई दी कि, 'राजन्! श्रमण भगवान महावीर का उद्यान में पदार्पण हुआ है।' राजा ने दरवार विसर्जित किया और वे पुत्र, रानियों एवं अन्य परिवार-जनों के साथ समवसरण में आये। सबने भगवान की देशना श्रवण की और किसी ने संयम, किसी ने देशचिरति तो किसी ने समकित ग्रहण किया।

महाराज श्रेणिक परिवार के साथ समवसरण से लौटे, परन्तु उनके पुत्र मेघकुमार के कानों में तथा हृदय में भगवान की देशना का गहरा प्रभाव पड़ा।

मेघकुमार महाराजा श्रेणिक की रानी धारिणी का इकलौता पुत्र था। वह स्वभाव से शान्त, अल्प-भाषी एवं सुशील था। धारिणी का साँस, प्राण अथवा जो कुछ गिनो वह सब यह पुत्र था। महाराजा ने मेघकुमार का आठ राजकुमारियों के साथ विवाह किया था। धारिणी के समान रनेह-सिक्त माता तथा प्रतापी एवं विवेकी श्रेणिक के समान पिता, फिर मेघकुमार को क्या चिन्ता? मेघकुमार ने सुख, राज्य-वैभव एवं प्रेम के अतिरिक्त अन्य कुछ भी देखा नहीं था।

भगवान की देशना ने मेघकुमार के हृदय में मन्थन प्रारम्भ किया। उसे जीवन की सफलता में माता-पिता की शीतल छाया और वैभव तनिक भी उपयोगी प्रतीत नहीं हुए। उसे तो केवल एक ही धुन लगी कि भगवान की शरण में जाकर अपना जीवन समर्पित करके यह मानव-भव कब सफल करूँ?

### (२)

मेघकुमार धारिणी एवं श्रेणिक के पास आया, उनके चरण स्पर्श किये और कहने लगा, 'आपने और मैंने भगवान की वाणी का श्रवण किया है, परन्तु मुझे तो वाणी श्रवण करने के पश्चात् तनिक भी चैन नहीं पड़ रहा। मुझे व्यतीत होने वाला एक एक क्षण अमूल्य प्रतीत होता है और वह अमूल्य मानव-भव का क्षण मैं भोग, सुख अथवा प्रमाद में व्यतीत करने के लिए तैयार नहीं हूँ। यदि आप अनुमति प्रदान करें तो मैं भगवान की शरण में जाकर प्रव्रज्या अङ्गीकार करूँ।'

ये शब्द सुनते ही धारिणी मूर्च्छित हो गई। तनिक समय में स्वस्थ होकर कहने लगी, 'पुत्र! संयम अर्थात् क्या होता है इसका तुझे ध्यान है? घर-घर भिक्षा माँगना, लकड़ी के पात्रों में खाना, नंगे सिर और नंगे पाँव विहार करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, यह सब क्या तू सहन कर सकेगा?'

‘माता! मैंने तुम्हारे यहाँ जन्म लिया तबसे तुम मेरी देखभाल करती हो, परन्तु मैं निगोद में भटका, अनन्त भव किये, सर्दी-गर्मी सहन की, भूखा रहा, वहाँ सब जगह किसने मेरी देख-भाल की?’

‘पुत्र! अपनी इन आठ पत्नियों पर दृष्टि डाल, उन्हें किसका आधार है? तू अभी जवान है, वृद्ध होने के पश्चात् सुख से दीक्षा ग्रहण करना।’ ‘माता!

स्वारथ सब जग जाल है, सगा न किसी का कोय। विषयसुख विष सारिखां, कैसे भोगूँ रोय??

माता! मुझे संसार भयानक प्रतीत होता है। ये राज्य-ऋद्धि, वैभव सब निरर्थक प्रतीत होते हैं।

श्रेणिक महाराजा ने कहा, ‘पुत्र! मेरी एक बात मान। तुझे संसार, राज्य सब दुःखदायी प्रतीत होते हैं, फिर भी तू एक दिन के लिए हमारी आज्ञा मानकर राजा बन जा।’

मेघकुमार मौन रहा। महाराजा श्रेणिक ने उसे राज्य सिंहासन पर विठाया। श्रेणिक, अभयकुमार, मंत्रीगण, सामन्त सब मेघकुमार राजा के समक्ष खड़े रहे और बोले, ‘राजेश्वर! आज्ञा दीजिये।’

‘मेरे लिए पात्र, रजोहरण, दण्ड आदि दीक्षा के उपकरण ले आओ। यह है मेरी प्रथम एवं अन्तिम आज्ञा।’ मेघकुमार ने धीर-गम्भीर स्वर में कहा।

श्रेणिक महाराजा समझ गये कि मेघकुमार को संयम के प्रति दृढ़ राग है। उसे राज्य-ऋद्धि अथवा विषय-भोग कोई रोक नहीं सकेंगे। महाराजा ने दीक्षा के उपकरण मंगवाये



राजवैभव को टुकरा कर मेघकुमार ने वीर प्रभु के पास प्रव्रज्या अंगीकार की.

और भगवान के पास मेघकुमार को दीक्षित कराया।

(३)

मेघकुमार अब मेघमुनि बन गये। रात्रि हो गई। समस्त साधुओं के संधारे विछाये गये। क्रम के अनुसार मेघ मुनि का संधारा अन्तिम एवं वह भी द्वार के समीप आया।

रात्रि में दंडासन हिलाते-हिलाते मुनिगण एक के पश्चात् एक 'मात्रा' करने के लिए जाते और लौटते। इस दशा में किसी का पाँव लगता तो किसी का दण्डासन लगता। संधारा रेत से भर गया। सारी रात मेघकुमार को नींद नहीं आई। उसका मन चक्कर में पड़ गया, 'कल तक लोग मुझे 'खम्मा-खम्मा' करते, वह आज मैं ठोकरें खा रहा हूँ। जो मुनिगण मुझे आदर पूर्वक बुलाते थे, हँस-हँस कर मेरे साथ बातें करते थे, वे आज मुझे शान्ति से नींद भी नहीं लेने देते। जगत सारा वैभव का पूजक हैं। मैं कल तक वैभवशाली था, राजपुत्र था। आज मैं वैभव का परित्याग करने के कारण महत्व-हीन हो गया हूँ। कल प्रातः भगवान के पास जाऊँगा और कहूँगा कि प्रभु! मैं घर जाऊँगा।'

प्रातःकाल हुआ। मेघकुमार ने भगवान को वन्दन किया। भगवान ने उसे कहा, 'मेघ! तुझे रात को नींद नहीं आई और तूने घर जाने का संकल्प किया, परन्तु तूने रात को जो सहन किया उसकी अपेक्षा और भी अधिक कठिन परिषह तूने सहन किये हैं। देख, तीसरे भव में तू मेरुप्रभ हाथी था। जिस वन में तू रहता था उस वन में आग लग गई। तू भागा, परन्तु अचानक नदी के कीचड़ में फँस गया और तेरी मृत्यु हो गई। पुनः तेरा जन्म हाथी के रूप में हुआ और वन में इधर-उधर घूमते-घूमते तुझे जातिस्मरण ज्ञान हुआ। वन में दावानल लगता है, जिसमें पशु-पक्षियों का नाश होता है। ऐसा पूर्व अनुभव होने से तूने उसमें से बचने के लिए एक योजन प्रमाण वृक्ष रहित मंडल-स्थान बनाया। उस वन में भी अचानक दावानल प्रकट हुआ। वन में से तू तथा छोटे-बड़े सभी पशु वैर-विरोध भूल कर उस मांडले में आकर एकत्रित हुए। चारों ओर अग्नि की ज्वालाएँ धधक उठीं परन्तु तेरे मांडले में आग नहीं पहुँची। अचानक अपने पैर में खुजली होने से उसे खुजाने के लिए तूने पैर ऊँचा किया। वहाँ स्थान सँकरा (संकीर्ण) होने के कारण रिक्त हुए स्थान में एक खरगोश (शशक) आकर खड़ा हो गया। पैर नीचे रखते समय तूने खरगोश को देखा और तुझे दया आ गई, जिससे तूने अपना पाँव उठा हुआ ही रखा।

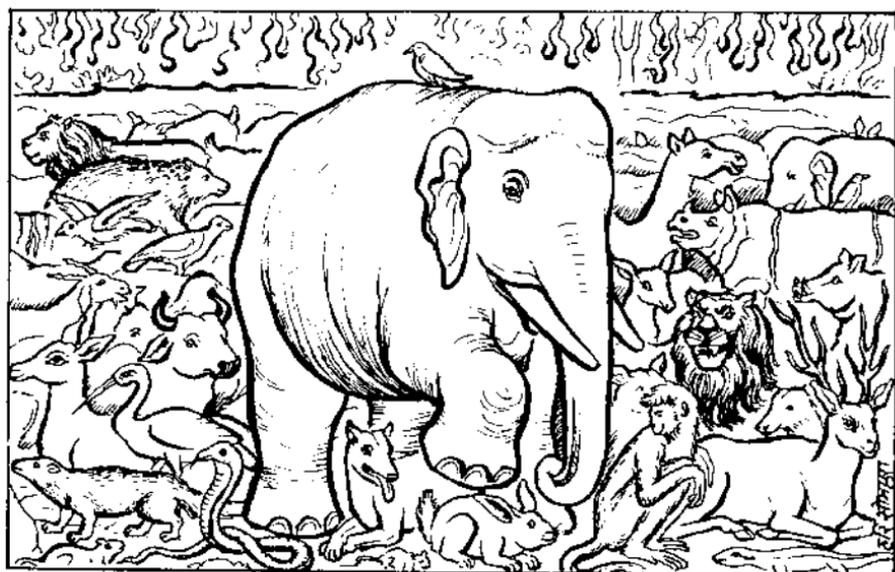
आग ढाई दिन तक जलती रही। पशु भूखे-प्यासे वहाँ रहे। अग्नि शान्त होने पर पशु चले गये और वह खरगोश भी चला गया। तूने पाँव नीचे रखने का प्रयास किया, परन्तु तेरा पाँव अक्कड़ जाने के कारण भूमि पर नहीं रखा जा सका और तू भूमि

पर गिर गया। हे मेघकुमार! तू भूख-प्यास से चेतना-शून्य होकर मर गया और दया के पुण्य के कारण तू श्रेणिक राजा के घर उत्पन्न हुआ। उस समय तू पशु था, आज तू मानव है। तेरा पुरुषार्थ, तेरा पराक्रम, तेरा विवेक और तेरी समझ आज अधिक है। तूने हाथी के भव में आकर शक्ति बतलाई थी, वही तू ऐसे एक दिन की पवित्र मुनियों की अज्ञात ठोकरों से विचलित हो जाये, यह क्या उचित है।'

मेघकुमार को जातिस्मरण ज्ञान हुआ। वे संयम में अत्यन्त सुदृढ़ हो गए, तप-त्याग में लीन हो गए और नेत्र की पलकों के अलावा पूरी देह वैथावच्च में समर्पित करके आराधना पूर्वक संयम का पालन करके अनुत्तर विमान में गए।

भगवान भी इस प्रकार अनेक जीवों के जीवन-रथों को सच्चे मार्ग पर मोड़ कर 'धर्म-सारथी' कहलाये।

(त्रिपट्टिशलाका से)



हे मेघकुमार! भयंकर दावानल से बचने के लिए जंगल के प्राणी परस्पर बैर भूल कर तेरे मंडल में आए। उस समय तूने खरगोश को बचाने के लिए अपना पैर ऊंचा रखा।

मुनि-दर्शन अर्थात्

## इलाचीपुत्र कथा

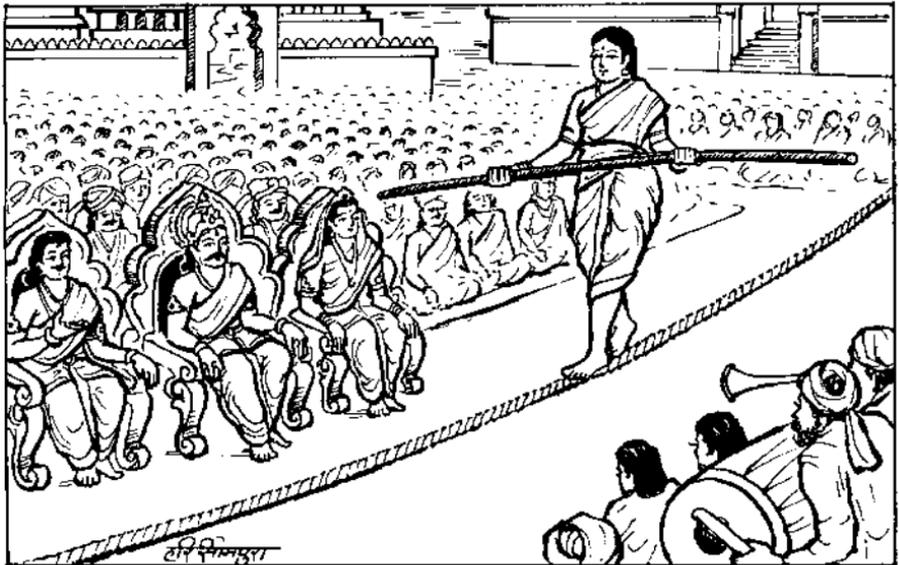
(१)

पी ई ई ई, ढींग-ढींग, ढम-ढम करते नट इलावर्द्धन नगर के चौक में वाँस खड़े करके खेल करने लगे।

नगर-जन देखने के लिए उमड़ पड़े हैं। धनदत्त सेठ का पुत्र इलाची भी देखने के लिए आया है।

नट रस्से पर चल रहा था, उसके हाथ में वाँस था। नीचे पाँवों में घुंघरु बाँध कर एक नटनी नृत्य कर रही थी और अन्य लोग 'एय भला-एय भला' कहकर वाँस पर नृत्य करने वाले को सावधान करते रहते थे।

इलाची पुत्र ने पाँवों में घुंघरु बाँधे नृत्य करती नट-पुत्री को देखा तो उसके नेत्र रीझ गये, नेत्रों को शीतलता प्राप्त हुई। लखपति के इस पुत्र को जिन गृहस्थों की कुलीन पुत्रियों में जो रूप प्रतीत नहीं हुआ था। वह रूप मैले-कुचैले वस्त्रों में नृत्य करती नटनी में दृष्टिगोचर हुआ। लोग रस्से पर नृत्य करते नट को देखने में तन्मय थे, जब इलाची



लखपति-पुत्र इलाची को गृहस्थों की कुलीन पुत्रियों में जो रूप प्रतीत नहीं हुआ वह रूप मैले कुचैले वस्त्रों में नृत्य करती नटनी में दृष्टिगोचर हुआ।

पुत्र नटनी की भाव-भंगिमा एवं हाव-भाव देखने में तल्लीन था।

खेल समाप्त हो गया। लोग विखर गये। इलाची पुत्र घर आया परन्तु नटनी की आकृति किसी भी तरह उसकी दृष्टि से ओझल नहीं हुई।

## (२)

इलाची पुत्र न तो किसी के साथ हँसता था और न किसी के साथ बोलता था। उसका चेहरा उतर गया था। वह भोजन करने के लिए बैठा परन्तु किसी भी तरह कौर उसके गले न उतरा।

धनदत्त ने इलाची को गुप्त रूप से बुला कर पूछा, 'क्यों? किसलिए उदास हो गया है?'

'कुछ नहीं, पिताजी!' कहकर इलाची ने बात समाप्त की परन्तु उसके पीछे उसे बहुत बहुत कहना था जो छिप नहीं सका।

माता पुत्र के पास आई और सिर पर हाथ फिराते हुए कहा, 'पुत्र! चिन्ता मत कर, व्याकुल मत हो, जो हो वह कह दे।'

इलाची पुत्र मौन रहा। माता ने बार बार पूछा तब वह बोला, 'माता! मैं कहूँगा तो आपको दुःख होगा; परन्तु तुम्हें जानना ही हो तो सुनो। अपने गाँव में नट आये हैं, उनमें एक नटनी नृत्य करती है। उसे मैंने जब से देखा तभी से मेरा मन मेरे वश में नहीं रहा। माता, क्या उसका रूप? क्या उसकी भाव-भंगिमा? मैं विवाह करूँगा तो उसी के साथ, किसी अन्य के साथ नहीं।'

'पुत्र! हम साहूकारों में कहाँ कन्याओं का अभाव है? सुशिक्षित, रूपवती देवाङ्गना तुल्य, तू कहेगा वैसी कन्या के साथ तेरा विवाह करूँगी। ऐसे घर-घर भीख माँगने वाले नट की पुत्री के साथ तू विवाह करे, यह क्या उचित है?'

इलाची पुत्र मौन रहा।

माता ने यह बात अपने पति को बतलायी। पिता ने भी इलाची को अनेक प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया परन्तु उनके समस्त प्रयत्न निष्फल हुए।

इलाची एकाकी रहने लगा। वह न तो खाता था और न किसी स्थान पर स्थिर रहता था। उसे नींद में भी नट-पुत्री के स्वप्न आते और उसी सन्दर्भ में प्रलाप करता रहता था।

धनदत्त सेठ ने विचार किया कि 'लज्जा-लज्जा' करूँगा तो पुत्र खो बैठेगा। उन्होंने नट को बुलाया और कहा, 'नटो! मेरा पुत्र तुम्हारी पुत्री देख कर मोहान्ध हो गया है। मेरे तो इकलौता पुत्र है। तुम कहो उतना धन दे दूँ। तुम अपनी पुत्री का विवाह मेरे पुत्र के साथ कर दो।'

‘ना वापजी! यह पुत्री तो हमारी आजीविका का आधार और हमारा बहुमूल्य रत्न है। हम तो उसका विवाह ऐसे युवक से करेंगे जो हमारे साथ नृत्य करे, खेल करे, राजा को रिझाये और हमारी सम्पूर्ण न्यात को दावत दे।’

सैठ सकपकाये, व्याकुल हो गये। उन्होंने इलाची को कहा, ‘नट की शर्त कठिन है। नटनी का मोह छोड़ और तू कहे वैसी कन्या के साथ तेरा विवाह करूंगा।’

इलाची ने पिता को कोई उत्तर नहीं दिया, जिससे वे समझ गये कि पुत्र अपनी हठ नहीं छोड़ेगा।

भोर होने पर नटों ने वहां से प्रयाण किया। इलाची ने उन्हें नगर के बाहर जाते देखा। वह उठा, उसने माता-पिता को मन ही मन प्रणाम किया और मन्थर गति से चलता हुआ से वह घर से बाहर निकला और दौड़कर नटों से जा मिला। उसने नटों से कहा, ‘तुम्हारी समस्त शर्तें मुझे स्वीकार हैं।’

कुछ ही दिनों में इलाची गुलांट खाना और वाँस पर चढ़ना सीख गया और गाँव-गाँव खेल बताने लगा तथा समस्त नटों में वह युवा नट लोगों के आकर्षण का केन्द्र बन गया।

### (3)

वेनातट नगर में नटों ने पड़ाव डाला। वाँस गाड़ दिये और पी ई ई ई और ढम-ढम ढोल बजाने लगे।

सम्पूर्ण गाँव चौक में एकत्रित हुआ। वीच में राजा का सिंहासन रखा गया। इलाची मोटी अंगरखी और चोलणा पहन कर आगे गया। राजा के चरण स्पर्श किये और चूटकी भर मिट्टी लेकर सिर पर चढ़ाकर धरती माता को प्रणाम करके वाँस पर चढ़ा।

आज इलाची के हर्ष का पार नहीं था। उसने संकल्प किया था कि ‘राजा को प्रसन्न करूंगा और भारी पुरस्कार प्राप्त करूंगा। तत्पश्चात् मैं न्यात(जाति) को भोजन कराऊँगा और धूम धाम से नटनी के साथ विवाह करूँगा।’

इस रस्से से उस रस्से तक कूदता हुआ इलाची दौड़ता है तो वीच में आकाश में उछल कर पुनः रस्से पर स्थिर होता है। कभी वह एक पाँव से रस्से पर चलता है, तो कभी कमान लेता-लेता रस्से पर अग्रसर होता है।

सम्पूर्ण नगर तालियाँ बजाकर इलाची का स्वागत करता है और वह नीचे उतर कर राजा को प्रणाम करके दान माँगता है। राजा नींद में से जगा हो उस प्रकार कहता है, ‘नटराज! तुमने सुन्दर खेल किया होगा, परन्तु मेरा चित्त व्यग्र था। मैंने तुम्हारा खेल नहीं देखा, पुनः खेल करो।’

इलाची ने पुनः राजा को प्रणाम किया, रेत सिर पर चढ़ाकर तीव्र वेग से वाँस के ऊपर से रस्से पर कूदा। नये नये खेल करके लोगों के मन को रिझाने लगा, परन्तु राजा का मन नहीं रीझा। इलाची का मन खेल करते समय घुंघरू वाँध कर नृत्य करती

नटनी में लालायित हुआ था। राजा चकोर था। वह समझ गया कि नटनी का भरतार यह नट है और यदि यह गिर कर मर जाये तो ही नटनी को अपने अधीन करने में अनुकूलता होगी।

मुर्गे ने 'कूकड़ू कू' की ध्वनि प्रारम्भ की तो इलाची समझ गया कि सवेरा हो गया। वह नीचे उतरा, राजा को उसने प्रणाम किया और दान के लिए हाथ फैलाया। राजा ने कहा, 'नटराज! प्रातःकाल की वायु की शीतल लहर से मेरी आँख लग गई थी और मैं तुम्हारा खेल देख नहीं सका। पुनः एक बार मुझे अपना खेल बताना।'

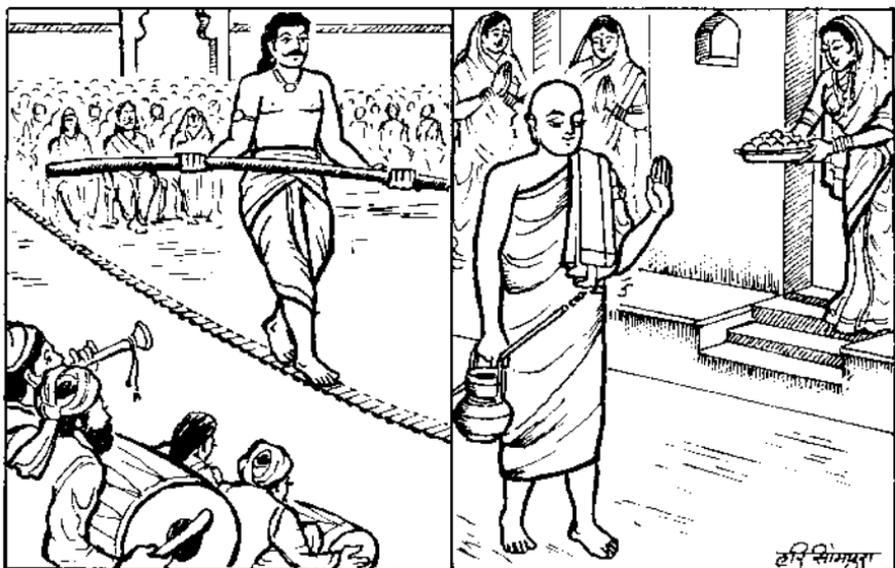
इलाची समझ गया कि - 'मैं धन वंछु राय का, राय वंछे मुझ घात।'

मैंने घर-बार, माता-पिता सब इस नटनी के लिए छोड़ा और राजा दान दे तो नटनी प्राप्त हो सकती है। यही सोचकर उसने पुनः अपना हृदय दृढ़ किया और खेल प्रारम्भ कर दिया।

(४)

सूर्य पूर्व में दृष्टिगोचर हुआ और स्वर्ण की रक्तिम धूप की पतली चादर उसने जगत पर डालनी प्रारम्भ की। बाँस पर खेल करने वाले इलाची ने नये नये खेल प्रारम्भ किये और नट पूर्ण उत्साह से ढोल को ढम-ढम बजाने लगा। इलाची की दृष्टि दूर दूर तक पड़ रही थी।

उसने देखा सेठ के घर के आँगन में मुनिवर गोचरी लेने आये। रूप-लावण्य की अंबार तुल्य युवती लड्डुओं से भरा हुआ थाल लाकर मुनि को भिक्षा देने लगी। मुनि



इलाची ने दूर सुदूर देखा - रूप-लावण्य की अंबार युवती मुनि को मोदक लेने का आग्रह कर रही है फिर भी मुनि नीची दृष्टि रख मना कर रहे हैं।

हरि सिंगपूरा

- नहीं -नहीं कह कर लौटते हैं। मुनि के नेत्र नीचे हैं। वे स्त्री के साथ दृष्टि तक नहीं मिलते। इलाची विचार में पड़ गया। क्या उनकी तप-कृश देह? क्या त्याग? क्या तेज? क्या प्रभाव? धन्य धन्य मुनिवर! कहाँ आप और कहाँ मैं पामर?

मैंने श्रेष्ठि-कुल में जन्म लिया, नटनी पर मोहित हुआ, लज्जा छोड़ी, मर्यादा छोड़ी और गाँव-गाँव नाचता रहा।

*'धिग् धिग् विषया रे जीव ने, इम् नट पाम्यो वैराग।'*

संसार में नये नये खेल किये और अभी तक मैं विषयों की आशा में घूम रहा हूँ। धन्य है इन मुनिवर को! जो 'लो लो' कहने पर भी लेते नहीं। इस तीव्र पश्चाताप से चार घातीकर्म के पट टूट गये और नटनी को पाने के लिए तत्पर इलाची ने केवलज्ञान प्राप्त किया। नट के बाँस-रस्से सब अदृश्य हो गये और वहाँ देव-रचित सिंहासन बन गया। घड़ी भर पूर्व की खेल-शाला धर्म-स्थानक बन गई और इलाची केवली का उपदेश सुन कर खेल से रंजित होने के लिये आये हुए लोग धर्मरंजित बन कर विभिन्न व्रत ग्रहण करके अपने स्थान को लौट गये।

अभिरूढो वंस्सगो मुणिपवरं दट्टु केवलं पत्तो।

जो गिहिवेसधरो वि हु तमिला पुत्तं नमंसामि।।

बाँस के अग्रभाग पर चढ़े हुए गृहस्थ वेपधारी इलाची पुत्र को मुनिवर को देखकर केवलज्ञान प्राप्त हुआ, उन्हे मैं नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार दूर से हुआ मुनि-दर्शन इलाची पुत्र के लिए भव-तारक बना, तो साक्षात् मुनि-परिचय क्या कल्याण नहीं करेगा?

(ऋषिमंडलवृत्ति से)

# शुद्ध आहार गवेषणा अर्थात् ढंढण मुनि

(१)

‘भगवन्! आपके पास अठारह हजार मुनिवर हैं। इन सब में सर्व श्रेष्ठ उग्र तपस्वी मुनिवर कौन है? श्रीकृष्ण महाराज ने नेमिनाथ भगवान को देशना के पश्चात् यह प्रश्न पूछा। भगवान ने कहा, ‘कृष्ण! तपस्वी तो अनेक हैं परन्तु इन सब में श्रेष्ठ एवं दृढ़ तो ढंढण मुनि हैं।’

ढंढण मुनि का नाम सुनकर श्रीकृष्ण की पूर्व स्मृति जागृत हुई - ‘ढंढणा रानी का यह इकलौता पुत्र अत्यन्त सुकोमल, विलासी एवं सुख में पला हुआ था। उसने एक वार भगवान श्री नेमिनाथ की वाणी का श्रवण किया और उससे प्रतिबोध प्राप्त किया।

ढंढणा ने एवं मैंने उसे बहुत बहुत समझाया परन्तु वह नहीं समझा और उसने दीक्षा अङ्गीकार कर ली। उग्र तप एवं त्याग में वह इतना अधिक आगे बढ़ा कि भगवान अपने श्री मुख से उसे ‘सर्व श्रेष्ठ अणगार’ कहते हैं। श्रीकृष्ण के मन में वात्सल्य का आनन्द जाग्रत हुआ और उन्होंने समस्त मुनियों की ओर दृष्टि डाली। उन्होंने उन्हें खोजने का प्रयत्न किया परन्तु वे दिखाई न देने पर उन्होंने भगवान से पूछा, ‘भगवन्! इनमें ढंढण अणगार क्यों नहीं दृष्टिगोचर होते?’

‘कृष्ण! तपस्वी तो अनेक हैं, परन्तु ढंढण का तप एवं धैर्य अटल है। वे नित्य भिक्षार्थ जाने हैं फिर भी उन्हें द्वारिका में गे निर्दोष आहार प्राप्त नहीं होता। अभी वे भिक्षा



हे कृष्ण! तपस्वी तो अनेक हैं मगर ढंढण का तप एवं धैर्य अटल है!

के लिए द्वारिका में गये हैं।'

'भगवन्! इतनी विशाल द्वारिका में सबको निर्दोष आहार प्राप्त होता है और उन्हें क्यों नहीं प्राप्त होता?'

'राजन्! पूर्व भव में उन्होंने आहार का अन्तराय किया था, जिससे इस भव में उन्हें आहार का अन्तराय होता है। अन्य मुनियों को अन्तराय नहीं है जिससे उन्हें प्राप्त होता है। कर्म की सत्ता अटल एवं अटूट है।'

'कृष्ण! ये ढंढण पूर्व भव में पाँच सौ कृपकों का अधिकारी था। जब कृपकों के भोजन करने का समय होता तब वह प्रत्येक को एक एक अधिक क्यारी में हल चलवा कर छोड़ता। कृपक निःश्वास छोड़ते हुए हल चलाते, परन्तु उनका जी तो भोजन में रहता। समय व्यतीत हुआ और वह अधिकारी जन्म लेता-लेता तेरे यहाँ उत्पन्न हुआ, परन्तु कृपकों को किया गया अन्तराय अब उसके उदय में आया है। इस कारण से सबको निर्दोष आहार प्राप्त होता है परन्तु उसे प्राप्त नहीं होता। उसमें उसका अन्तराय कर्म कारण है। कर्म तो सबके उदय में आते हैं, परन्तु ढंढण का पुरुषार्थ अद्भुत है। वह नित्य भिक्षार्थ जाता है और निर्दोष आहार नहीं प्राप्त होने पर तनिक भी ग्लानि न करता हुआ उपवास पर उपवास करता है और अन्य मुनियों द्वारा लाये हुए निर्दोष आहार को वह ग्रहण नहीं करता। वह तो कहता है कि 'मेरा अन्तराय टूटेगा और मुझे निर्दोष आहार प्राप्त होगा तब ही आहार ग्रहण करूँगा।'

## (२)

श्री कृष्ण हाथी पर सवार होकर द्वारिका के राजमार्ग में से निकले और उन्होंने सामने आते एक तप-कृश मुनि को देखा। प्रारम्भ में तो वे मुनि को नहीं पहचान सके, परन्तु निकट आने पर ढंढण मुनि को पहचाना। कृष्ण तुरन्त हाथी से नीचे उतरे। मुनि की तीन प्रदक्षिणा की और वंदन करके बोले, 'भगवन्! आपके दर्शन मेरे परम सौभाग्य के सूचक है' परन्तु मुनि मौन रहे और आगे बढ़ गये।

कृष्ण पुनः पुनः उनके तप का अनुमोदन करते हुए आगे चले और मुनि भी आगे बढ़ते गये। वहाँ एक वणिक ने कृष्ण द्वारा वन्दन किये जाते ढंढण मुनि को देख कर अत्यन्त सम्मान पूर्वक उन्हें मोदकों (लड्डूओं) की भिक्षा प्रदान की।

मुनि ने बराबर आहार की गवेषणा की और आहार को निर्दोष मानकर उसे लेकर भगवान के पास आये।

ढंढण ने भगवान को आहार वत्ताते हुए कहा, 'भगवन्! बहुत दिनों के पश्चात् आज मुझे निर्दोष आहार प्राप्त हुआ है, मेरा अन्तराय कर्म अब अवश्य क्षय हुआ है।'

'ढंढण! यह आहार तुमको अन्तराय क्षय होने से प्राप्त नहीं हुआ, परन्तु कृष्ण के

सम्मान के कारण वणिक् ने तुम्हें निर्दोष आहार प्रदान किया है।'

'भगवन्! तब इसमें लब्धि श्री कृष्ण की है, मेरी तो नहीं है न?'

'सत्य है, तुम्हारी नहीं है।'

तुरन्त ढंढण अणगार आहार के पात्र की झोली लेकर निर्जीव स्थान पर आहार डालने के लिए चले।

### (३)

अनेक दिनों तक क्षुधा-तृषा को हँसते-हँसते सहन करने वाले ढंढण मुनि द्वारिका के बाहर आये। निर्दोष भूमि देख कर वहाँ खड़े रहे और झोली में से लड्डु हाथ में लेकर चूरा करने लगे। ढंढण, लड्डुओं का ही चूरा नहीं कर रहे थे बल्कि इस प्रकार वह मानो अपने कर्म-पिंड का ही चूरा और...क्षय...कर रहे थे। इस प्रकार उनकी विचारधारा आगे-आगे बढ़ती गई। पाँच सौ पाँच सौ मनुष्यों को भोजन के लिए अन्तराय डालने वाले मैंने पूर्व भव में थोड़ा ही सोचा था कि मैं भोजन का अन्तराय कर रहा हूँ? मेरे द्वारा बाँधा हुआ अन्तराय मैं नहीं भोगूँगा तो कौन भोगेगा? इस प्रकार धीरे धीरे आत्म परिणति में अग्रसर होते मुनि को अपनी देह के प्रति निर्माह जाग्रत हुआ और वे शुक्लध्यान में आरूढ हुए। अन्तराय कर्म का क्षय करते-करते उन्होंने चारों घाती कर्मों का क्षय किया। इस ओर लड्डुओं का चूरा पूर्ण करके उन्होंने उसे मिट्टी में मिला दिया और दूसरी ओर कर्म का चूरा करके, कर्म क्षय करके केवल लक्ष्मी प्राप्त



ढंढण मुनि को तीन प्रदक्षिणा देकर कृष्ण बोले - 'भगवन्! आपके दर्शन मेरे परम सौभाग्य का चिह्न है.'

की। किसी भाग्यशाली धूल धानिये को कूडा-करकट फैंकते समय स्वर्ण, मोती अथवा रत्न प्राप्त हो जाये उसी प्रकार कृष्ण के पुत्र ढंढण मुनि को लड्डूओं का चूरा मिट्टी में भिलाते समय मिट्टी धोते समय मोक्षरत्न प्राप्त हुआ। देवों ने देव-दुंदुभि वजाते हुए चारों ओर जय जयकार का घोष किया।

ढंढण मुनि भगवान के पास आये और वे केवली पर्पदा में बैठे। शुद्ध आहार गवेषणा भी केवलज्ञान का धाम कैसे बन सकता है। उसका जगत् के सामने आदर्श प्रस्तुत करते हुए आज भी उन ऋषि को -

*ढंढण ऋषि को वंदना में वारी लाल उत्कृष्टों अणुगार रे में वारी लाल*  
कहकर जगत् उनके पावन नाम को सुनकर पावन बनता है।

**पुष्पिए फलिए तह पिउ धरंमि तन्हा छूहा समणुबद्धा**

**ढंढेण तहा विसद्धा, जह सफलया जाया ॥३९॥**

अर्थात् पुष्पित एवं फलित ऋद्धि-सिद्धि सम्पन्न पिता कृष्ण-वासुदेव का घर होते हुए भी ढंढण कुमार ने मुनि जीवन में निरन्तर ऐसी भूख एवं प्यास सहन की कि जो उन्हें केवल-लक्ष्मी प्रदान करा कर सफल हो गई।

(उपदेशमाला से)

उपशम विवेक एवं संवर अर्थात्

## महात्मा चिलाती का वृत्तान्त

(१)

क्षितिप्रतिष्ठित नामक नगर था जहाँ यज्ञदेव नामका ब्राह्मण निवास करता था, जो व्याकरण, न्याय एवं काव्य में महान् विद्वान् माना जाता था। विद्या के साथ उसको विद्या का अहंकार भी था जिसके कारण वह स्थान-स्थान पर कहता कि, 'मुझ पर जो विजय प्राप्त करेगा उसका मैं शिष्य वनूँगा।'

एक वार एक क्षुल्लक साधु ने उसे जीत लिया। अतः यज्ञदेव ने जैन दीक्षा अङ्गीकार की। वह चारित्र्य का अच्छी तरह पालन करता परन्तु वस्त्रों की मलिनता की निन्दा करता और कहता कि 'जैन धर्म में सब श्रेष्ठ है परन्तु स्नान करने की आज्ञा नहीं है, यह ठीक नहीं है।'

एक वार वह भिक्षा लेने के लिए निकला और घूमता घूमता वह अपने ही घर आ पहुँचा। पति को देख कर ब्राह्मणी के मन में मोह उत्पन्न हो गया और उसने उन पर जादू-टोना कर दिया। मुनि व्रत में दृढ़ थे जिससे ब्राह्मणी का जादू-टोना चला नहीं, परन्तु दिन प्रतिदिन मुनि की देह क्षीण होती गई। अन्त में वे अनशन करके कालधर्म को प्राप्त हुए। जब उनकी पत्नी को यह पता लगा तब उसे घोर पश्चाताप हुआ। इस कारण प्रायश्चित्त स्वरूप उसने आलोचना ली और दीक्षा अङ्गीकार करके वह स्वर्ग सिधारी।

(२)

राजगृह नगर में धनावह सेठ और भद्रा सेठानी निवास करते थे। उनके घर चिलाती नाम की एक विश्वासपात्र दासी थी। दासी को पुत्र हुआ और सेठानी को एक पुत्री हुई। चिलाती दासी के पुत्र को लोग 'चिलाती-पुत्र' कह कर पुकारने लगे और सेठानी की पुत्री का नाम सुषमा रखा। सुषमा एवं चिलाती-पुत्र दोनों साथ खेलते और साथ ही उनका पालन-पोषण होता था फिर भी दोनों के संस्कारों में अत्यन्त अन्तर था। चिलाती-पुत्र के अध्ययन एवं संस्कारों के लिए कोई ध्यान नहीं देता था। वह गाँव में भटकता, लड़कों को पीटता और मार खाते-खाते बड़ा हुआ। सुषमा के लिए सेठ-सेठानी सब ध्यान रखते और उसके संस्कारों का निर्माण अच्छी तरह करते।

चिलाती पुत्र जब आठ वर्ष का हुआ तब उसकी माता की मृत्यु हो गई, जिससे वह

निराधार हो गया और अधिक कुसंगति में पड़ा।

एक वार सेठानी की दृष्टि चिलाती-पुत्र एवं सुपमा के खेल पर पड़ी। सेठानी ने देखा तो चिलाती-पुत्र सुपमा के साथ कुचेष्टा कर रहा था। सेठानी ने यह बात सेठ को कही। इस पर सेठ ने उसे निकाल दिया।

चिलाती पुत्र निरंकुश हो गया। उसे अब कोई कहने वाला अथवा टोकने वाला नहीं था। धीरे-धीरे वह चोरों की संगति में पड़ता गया, मदिरा-पान करने लगा तथा लुटेरों के दल में सम्मिलित हो गया। तत्पश्चात् उसने एक पल्ली बसाई और उसका अधिपति बन गया।

चिलाती पुत्र सुपमा को भूलने का भरसक प्रयत्न करता परन्तु वह उसे विसरा नहीं सका और सुपमा भी चिलाती पुत्र के अवगुणों का तिरस्कार करती फिर भी किसी भी प्रकार से वह उसे भूल नहीं सकी।

### (३)

चिलाती अठारह वर्ष का हो गया। उसने अनेक साथी एकत्रित किये। उसकी देह हृष्ट-पुष्ट एवं भव्य थी तथा मन क्रूर था। एक लुटेरे में जो विशेषताएँ होनी चाहिये, वे सब उसमें थीं। एक वार उसने अपने साथियों को कहा, 'आज हमें राजगृह में धनावह के भवन पर लूट करनी है, धन तुम्हारा और उसकी पुत्री मेरी।' चोरों ने शर्त स्वीकार की।

ठाक मध्याह्न का समय था। चिलचिलाती धूप तप रही थी। इतने में झाड़ी में से चालीस-पचास लुटेरों (डाकुओं) का दल आया और राजगृह के पिछले द्वार से प्रवेश कर वणिकों की गली में प्रविष्ट हुआ। लोगों ने अत्यन्त चीख-पुकार मचाई परन्तु नगर-रक्षकों के आने से पूर्व ही चोर धन के ढेर लेकर और चिलाती सुपमा को लेकर भाग गया।

सेठ ने कहा, 'धन तो कल प्राप्त हो जायेगा परन्तु लुटेरे मेरी पुत्री को उठा ले जायें यह मैं जीते जी कैसे सहन कर सकता हूँ? मुझे धन की आवश्यकता नहीं है। मुझे मेरी पुत्री ला दो।' नगर-रक्षक दौड़े। सेठ ने भी पाँचो पुत्रों को साथ लेकर चोरों का पीछा किया।

चिलाती को सुपमा के प्रति प्रेम एवं मोह है, उसे अनेक बातें पूछने का उसका मन है और सुपमा को भी चिलाती के प्रति मोह होते हुए भी उसे अनेक बातों में सीख देने की उसकी इच्छा है; परन्तु न तो इस समय चिलाती का चित्त ठिकाने है और न सुपमा का। वार-वार रूकती सुपमा को वह हाथ पकड़ कर खींचता है, इतने में सुपमा के पाँव में काँटा चुभ जाता है। रक्त की धारा बहने लगी। चिलाती ने तनिक झुक

कर काँटा निकाला और पीछे देखा तो अपना पीछा करते सेठ, उसके पुत्रों तथा सैनिकों को देखा. सुपमा घबरा गई, अतः चिलाती ने तुरन्त उसे कंधे पर उठाया और तीव्र गति से दौड़ने लगा। खड्डों, ग्रीष्म ऋतु की धूप, प्यास तथा सेठ के भय से सुपमा को उठाये अधिक आगे चलना चिलाती को जब दुष्कर प्रतीत हुआ तब वह घबराया। उसका धैर्य टूट गया। सुपमा को लेकर मैं अब यहाँ से नहीं भाग सकूँगा, यह निश्चय हो गया, परन्तु पूर्व जन्म की स्नेही सुपमा को छोड़ी भी कैसे जाये? इस प्रश्न ने उसे असमंजस में डाल दिया।

चिलाती एवं सेठ के मध्य अन्तर कम रह गया था। इस समय उसके पास अधिक सोचने का समय नहीं था। अब चिलाती के पास सुपमा को सौंप कर सेठ के अधीन होना अथवा सुपमा को छोड़ कर भाग जाना, ये दो ही मार्ग थे। इतने कष्टों से उठाई हुई सुपमा को पुनः सौंप कर बन्दी वनूँ और लोग नगर में मेरी ओर अंगुली उठावें, इसकी अपेक्षा तो मृत्यु क्या बुरी है? अपने प्राण बचाने के लिए सुपमा को इस प्रकार फेंक दूँ तो मेरा उस पर शुद्ध प्रेम नहीं था यह भी स्वयं ही क्या प्रमाणित नहीं होता?

‘ओ चिलाती! रुक जा। तूने मेरा अन्न खाया, मेरे घर पला और तू मेरी पुत्री को भगा कर मुझे लोगों में बदनाम मत कर। छोड़ दे सुपमा को!’ भय, शोक एवं क्रूरता से सेठ चिल्लाया।

भय से काँपती सुपमा का निस्तेज चेहरा चिलाती ने देखा और देखते ही उराके मन



चिलाती ने तनिक झुककर सुपमा के पैर से काँटा निकाला और दूर देखा तो अपना पीछा करते हुए सेठ, उसके पुत्रों तथा सैनिकों को देखा.

में भीषण दुर्विचार आया कि 'खाऊँ नहीं तो फैंक तो दूँ' और उसने 'सुषमा बनेगी तो मेरी, अन्यथा किसी की नहीं' - यह सोच कर एक ही झटके में उसका सिर काट कर हाथ में लेकर वह पर्वत की खाइयों में उतर गया।

धनावह सेठ सुषमा के मृत धड़ के पास आकर फूट-फूट कर रोये। लुटेरे का पीछा करके मैंने भूल की अथवा ठीक किया उसका ये कोई निर्णय नहीं कर सके। वे शोकाकुल बने नगर की ओर लौट चले।

पुत्री की ऐसी करुण मृत्यु से सेठ का हृदय विरक्त हो गया और अल्प समय में ही घर-परिवार छोड़कर उन्होंने संयम ग्रहण कर लिया।

### (४)

एक हाथ में रक्त-रंजित मस्तक तथा दूसरे हाथ में चमकती हुई तलवार लिये यम-तुल्य चिलाती वन में दूर दूर चला जा रहा था। मैं कहाँ जा रहा हूँ? क्या कर रहा हूँ - इसका उसे तनिक भी भान नहीं था। वन के भेड़िये, बाघ, चीते और सिंह जैसे हिंसक पशु भी उसकी काल-भैरवी मूर्ति से भयभीत होकर गुफाओं में छिप जाते थे। इतने में समीप ही उसने एक वृक्ष के नीचे शान्त-मूर्ति चारण मुनि को कायोत्सर्ग ध्यान में देखा।

एक क्षण के लिए चिलाती ने मुनि के मुख मंडल पर दृष्टि डाली और दूसरे क्षण उसने अपनी ओर निहारा तो अमावस और पूर्णिमा की रात्रि जितना अन्तर प्रतीत हुआ। कहाँ तो शान्त रस से दीप्त एवं मुँदे हुए नेत्रों वाली अमृत की वृष्टि करती यह मूर्ति और कहाँ मैं रक्त-रंजित हस्त एवं क्रोध-धूम्र-मलिन हृदय और अग्नि वरसाता ज्वालामुखी तुल्य धृष्ट मानव! वह आगे बढ़ने के लिए तत्पर हुआ। इतने में उसके पैर रुक गये और हृदय ठहर गया। दासी-पुत्र, लुटेरा, स्त्री-हत्यारा तथा अपार पाप करने वाला मैं पापी अपनी छाया से मुनि को दूर रखूँ अथवा उनकी पवित्र छाया से अपनी देह को पवित्र करूँ? पवित्रता का अंश जिसमें हो वह पवित्र बनता है परन्तु मुझ में तो उसका लेश-मात्र भी नहीं है? पापाण को पल्लव एवं लोहे को कंचन बनाने का सामर्थ्य ऐसे महात्माओं में होता है; वे मेरा उद्धार नहीं करेंगे यह मैं कैसे मानूँ? चिलाती ने मुनि की ओर पाँव बढ़ाया और होश में आने पर सुषमा के चेहरे पर दृष्टि डाली तो उसका चेहरा उसे उपालम्भ देता और उसके पापों के प्रति तिरस्कार करता प्रतीत हुआ। 'सुषमा! मैं तेरे द्वारा ही नहीं परन्तु क्या जगत् के प्राणी मात्र से तिरस्कृत होने योग्य हूँ, तू जा, मैं अब वैसा नहीं रहूँगा, सुधरूँगा।' - यह कहते हुए उसने सुषमा का सिर दूर रख दिया और साथ ही साथ पाप को भी दूर रख कर वह मुनिवर के चरणों में गिर कर कहने लगा, 'महाराज! नेत्र खोलो इस दासीपुत्र - लुटेरे - हत्यारे

पापी पर दृष्टि डालो। पारसमणि पत्थर को स्वर्ण बनाती है उसी प्रकार आप मुझे अपनी पवित्र तप-तेज दृष्टि से पावन करो, महाराज! क्या उत्तर नहीं दोगे? क्या मेरा उद्धार होगा या नहीं? क्या मैं आपकी दृष्टि का स्पर्श करने योग्य नहीं हूँ? तो मुनो, जिसे मैंने अत्यन्त प्रिय मानी थी वह सुपमा मेरी न बनी तो उसे मैंने दूसरे की नहीं बनने दिया और इस तलवार से उसका प्राण ले लिया। यह तलवार चाहे जितनी रक्त-प्यासी हो परन्तु मैं अब उसे किसी के रक्त की वूँद नहीं देना चाहता। मैं आपसे अपने जैसे पापी के उद्धार का मार्ग माँगता हूँ और वह मार्ग नहीं है तो मैं इसी तलवार से अन्तिम प्यास आपसे बुझाकर अत्यन्त गहरी घोर दुर्गति से पुनः बाहर न आऊँ वैसा बन जाना चाहता हूँ।'

(५)

मुनि ने चिलाती की अच्छी तरह परीक्षा की। वह पापी था, हत्यारा था, परन्तु वह हठी पापी मानव नहीं था। वह क्रूर, घातक और डरावना था फिर भी सत्यवंत, प्रण का पक्का और परिणामतः पुण्यशाली था।

मुनि ने 'नमो अरिहंताणं' कह कर कायोत्सार्ग पारा तो तुरन्त चिलाती बोला, 'महाराज! महा पापी का उद्धार हो ऐसा जीवन-औषध तो धर्म है ऐसा सुना है, तो आप मुझे वह औषध दो और मुझ महापापी का उद्धार करो।'

'चिलाती! उपशम, विवेक एवं संवर धर्म है। इनका चिन्तन करने वाला, पालन करने



'पापाण को पल्लव एवं लोहे को कंचन बनाने का सामर्थ्य मुनियों में होता है'

ऐसा जान पापी चिलाती मुनि के चरण में गिरा!

वाला महा पुण्यशाली वन कर महापापी से महात्यागी वन कर अपना कल्याण करता है।

‘महाराज! इससे मेरे जैसे महापापी का भी उद्धार हो तो जायेगा?’ चिलाती ये शब्द पूरे करे इतने में तो मुनि को आकाश-मार्ग से चले जाते हुए देखा।

चिलाती ने हाथ ऊपर किये। ‘भगवन् भगवन्’ कह कर उसने प्रणाम किया और सोचने लगा - उपशम अर्थात् शान्ति, दवाना। क्या मैं अशान्त हूँ? किसको दवाऊँ? तनिक सोचने लगा और तलवार की ओर दृष्टि जाने पर ध्यान आया कि अशान्ति का प्रतीक तो यह मेरे हाथ में है। तुरन्त उसने तलवार दूर फेंक दी। रक्त-रंजित-हाथ, रक्त से सने वस्त्र, देह पर आई झल्लाहट; यदि शान्ति होती तो ये सब ऐसे होते? हे तारणहार मुनि! आपने यदि मुझे पहले उपशम समझाया होता तो क्या मैं ऐसा नराधम बनता? शान्ति नहीं है मेरे हाथ में, नहीं है देह पर, नहीं है वस्त्रों पर और नहीं है दिखावे में; परन्तु मेरा हृदय? वह तो कोतवाल पर क्रोधित है और जो आये उसे पूर्ण करने के लिए प्रयत्नशील है। भगवान्! आपने सचमुच सत्य कहा है कि उपशम तो कल्याण का मार्ग है। मैं सबसे क्षमा याचना करता हूँ, सेठ! मेरा अपराध क्षमा करना। नगर-रक्षको! अब मैं तुम्हारे कर्तव्य में बाधक नहीं बनूँगा। मैं तुमसे क्षमायाचना करता हूँ और तुम मुझे क्षमा करना।

संवर अर्थात् रोकना। मैं यहाँ अकेला हूँ। घोर जंगल है। मैं किसको रोकूँ? क्या पक्षियों को उड़ने से रोकूँ? क्या वृक्ष को हिलने से रोकूँ? क्या वायु को रोकूँ? किसको रोकूँ? हा, परन्तु दूसरों को रोकने का मुझे अधिकार क्या है? क्या मैं रुकूँ? क्या मैं चलना बन्द करूँ? क्या मैं बोलना बन्द करूँ? देखना बन्द करूँ? मुनि चले। मुनि ने उपदेश दिया। उन्होंने मेरी ओर दृष्टि डाली। उन्होंने मुझे चलने, देखने और बोलने का निषेध क्यों किया? तब ‘रुक जा’ यह क्यों कहा? मैं क्या करता हूँ कि जिससे रुक जाऊँ? विचार-धारा की गहराई में उतरने पर चिलाती को समझ में आया और वह मन में बोला - हाँ समझ गया, मुनि का मुझसे यह कहने का आशय था कि तू इन्द्रियों को रोक और भटकते हुए मन को रोक। सचमुच, मन और इन्द्रियाँ दोनों अत्यन्त चंचल हैं। इसलिये उसने उन्हें रोकने का निश्चय किया और मुनि के स्थान पर कायोत्सर्ग ध्यान में रहा।

चिलाती घोर वन में कायोत्सर्ग ध्यानस्थ रहा। उसके पाँव, हाथ और देह पर चीटियों के ढेर जम गये हैं। देह चलनी जैसी हो गई है, पशु-पक्षियों ने उसके हाथ-पाँव डसे हैं, फिर भी नहीं है उसकी दृष्टि में तनिक भी रोप अथवा नहीं है उसके जीवन में कोई सन्ताप। घड़ी भर पूर्व की विकराल देह वही है फिर भी आज उसमें शान्त रस

का झरना कल-कल करता प्रवाहित है। सुपमा में अनुरक्त मन को उसने मोड़ा और सोचा कि वह पूर्व भव की पत्नी, उसके साथ पूर्व भव का स्नेह-सम्बन्ध, परन्तु वह काम का क्या? मैं कितने समय तक उसे साथ रख सकता था? किसलिए चित्त को उसमें उलझा कर दुःखी होऊँ? मन! सुपमा में से हट जा, नेत्रो! सुपमा से दूर हो जाओ और इन्द्रियो! शान्त बन कर सब भूल जाओ। यह देह मैं नहीं हूँ। मैं भीतर का तत्त्व हूँ। देह के और मेरे क्या सम्बन्ध? यह विवेक-पद मुनि भगवन् द्वारा प्रदत्त मैं क्यों भूल रहा हूँ, भगवन्? भले मेरी देह चलनी जैसी हो जाये, मेरे अवयव नष्ट हो जायें, परन्तु अब मैं आप द्वारा प्रदत्त उपशम, संवर, विवेक की त्रिपदी को नहीं भूलूँगा। चिलाती की जर्जर बनी देह अल्प समय में ही नष्ट हो गई और उसकी आत्मा इस त्रिपदी की भावना में स्वर्ग गई।

लुटेरा, हत्यारा एवं महापापी चिलाती मुनि की त्रिपदी का चिन्तन करता हुआ, मुनि, संयमी, त्यागी और सन्त बनकर जगत् को ध्यान का आदर्श प्रदान करता हुआ काल के पटल में अदृश्य हो गया।

(योगशास्त्र से)

वैयावच्च अर्थात्

## महामुनि नंदिषेण की कथा

(१)

जीवन में ऐसे अनेक गुण हैं जो दिन और रात की तरह आते हैं और चले जाते हैं। कतिपय गुण तो अपना संस्कार अल्प समय के लिए छोड़ जाते हैं और कतिपय स्पर्श मात्र बन कर चले जाते हैं; परन्तु वैयावच्च जीवन में एक ऐसा गुण है कि जो आत्मा में अपना संस्कार चिरस्थायी रखता है।

नंदिषेण का जन्म मगध के नंदि गाँव में एक निर्धन ब्राह्मण के घर हुआ था। पिता का नाम था चक्रधर और माता का सोमिला। धन-सम्पत्ति निर्धनता का भले ही भेद करे परन्तु स्नेह के अंकुर के ऐसा भेद नहीं है। अतः निर्धन ब्राह्मण चक्रधर ने पुत्र का नाम नंदिषेण रखा।

नंदिषेण चरण धरने लगा और उसके अंगों का धीरे धीरे निकाम हुआ। खेजड़ी का वृक्ष जिस प्रकार चारों ओर नीम-पीपल देख कर लज्जित होता है उसी प्रकार नंदिषेण छोटे-छोटे सुन्दर कुमारों में अपने रस्सी जैसे दुबले हाथ-पाँव और गगरी तुल्य पेट जैसे अपने अंगों के कारण लज्जित होने लगा, परन्तु उस विषय में उस के हाथ कोई उपाय नहीं था।

नंदिषेण के तनिक बड़ा होते ही माता-पिता का देहान्त हो गया। कुरूप नंदिषेण को लड़के छेड़ते थे, अड़ौसी-पड़ौसी उसका तिरस्कार करते और कोई दया बता कर रोटी प्रदान करके उपकार भी करते थे। नंदिषेण की यह दयनीय स्थिति देखकर उसका एक दूर का मामा उसे अपने घर ले गया।

(२)

‘वन वैरी को वश में करते हैं’ - इस कहावत को नंदिषेण ने जीवन में उत्तारा और मामा के घर पर प्रत्येक कार्य वह ध्यान से करने लगा। कोई भी कार्य बताए तो नंदिषेण उसे करने के लिए तत्पर रहता। मामा, मामी और उनकी सातों पुत्रियों को नंदिषेण प्रिय हो गया।

नंदिषेण अब युवा हो गया। उसने सम वयस्क युवकों को घर-परिवार, पत्नी, पुत्र वाले देखा। नंदिषेण के मन में उनके सुख की ईर्ष्या नहीं थी परन्तु ‘मैं ऐसे ही मजदूरी कब तक करता रहूँगा?’ मुझ में और इनमें किस कारण से यह अन्तर हुआ? इसका

कारण ढूँढने के लिये वह कभी-कभी स्तब्ध हो जाता परन्तु जो अन्तर बड़े समझदार व्यक्ति भी शीघ्र नहीं ज्ञात कर सकते, उसे वह थोड़े ही खोज सकता था?

कभी वह निःश्वास छोड़ता और 'ए नंदिषेण' की पुकार होते ही वह कार्य में लग जाता। वह अब नित्य उद्विग्न रहने लगा। उसका मन मामा का घर छोड़ कर अन्यत्र अपना भाग्य आजमाने का हुआ। मामा उसके चेहरे से यह भाव समझ गये। उसका सुख, महत्वाकांक्षा 'अब मैं घर वाला और पत्नी वाला बनूँ' इसमें समाविष्ट है यह जानकर उन्होंने अपनी प्रत्येक पुत्री को नंदिषेण के साथ विवाह करने के लिए समझाया, परन्तु सब पुत्रियों ने कहा, 'योग्य पति नहीं मिलेगा तो हम आत्महत्या कर लेगी, परन्तु इस बेडौल, कुरूप मजदूर के साथ विवाह करके हमें अपना जीवन नष्ट नहीं करना है।'

### (३)

ठीक मध्यरात्रि का समय था। घर सुनसान था। सभी लोग सोये हुए थे। इतने में नंदिषेण उठा। मूक रह कर मामा-मामी को नमस्कार किया और जिस घर ने अन्न-जल प्रदान करके पाला-पोसा उसका स्मरण करता हुआ अपने दुर्भाग्य पर निःश्वास डालते हुए वह मन्द कदमों से घर के बाहर निकला। भूखा-प्यासा वह चलने लगा। 'ऊपर आकाश और नीचे पृथ्वी के अतिरिक्त मेरा कोई आधार नहीं है' - यह सोचता हुआ वह आगे चलता रहा। कभी तो वह किसी स्थान पर जाकर सेवा-शुश्रूषा करके अपना भाग्य आजमाने का विचार करता तो कभी ऐसा दुःखी जीवन जीने की अपेक्षा आत्महत्या करके दुःख का अन्त करने का मन में विचार करता। इतने में उसने दूर एक मुनि देखे जो स्थिर एवं ध्यान-मग्न थे। उन्होंने अपना ध्यान पूर्ण किया और नंदिषेण को धर्मलाभ दिया।

दुःखी के आश्रय मुनि को 'भगवान' कहते समय नंदिषेण का गला भर गया और उसके नेत्रों में आँसू आ गये। आँसू पोंछ कर काँपती देह से धड़कते कण्ठ से नंदिषेण ने मुनि को संक्षेप में अपना वृत्तान्त कहा।

मुनि ने कहा, 'नंदिषेण! आत्म हत्या दुःख से मुक्त होने का मार्ग नहीं है। तू स्वयं को भले अभागा मानता हो परन्तु तुझे ध्यान रखना चाहिये कि मानव-भव सर्वोत्तम सौभाग्य है और वह तुझे प्राप्त हुआ है तथा तेरी सशक्त देह है। नंदिषेण! संसार के भोग और सम्पत्ति के अभाव को तुझे दुर्भाग्य की संज्ञा नहीं देनी चाहिये।

### (४)

नंदिषेण की दुःख की कल्पना परिवर्तित हो गई। उसने मुनिवर का शरण लिया। वह श्रमण बना, तपस्वी बना और ग्लान बृद्ध-मुनियों एवं बाल-मुनियों के वैयावच्य

में सदा तत्पर बना। घर-घर भिक्षा के लिए घूम कर निर्दोष आहार लाकर वह बाल, वृद्ध, ग्लान की वैयावच्च करता। पाँच सौ साधुओं की सेवा का उसने नियम लिया। मुनि का वैयावच्च किये बिना वह मुँह में आहार-पानी नहीं डालता था।

कोई रोगी, अस्वस्थ मुनि को देख ले तो सभी नंदिषेण मुनि को सौंपते और कोई रोगी हो जाता तो वह वैयावच्च के लिए नंदिषेण का आश्रय खोजता। रात हो अथवा दिन, दोपहर हो अथवा प्रातःकाल जब देखो तब नंदिषेण साधुओं की वैयावच्च में लगा रहता। वह किसी समय आहार लाता तो किसी समय रोगी साधुओं का मल-मूत्र साफ करता।

नंदिषेण की कीर्ति देशभर में फैल गई। राजाओं की सभा में भी सेवा-भावी नंदिषेण के गुण गाये जाने लगे। अधिक फैली हुई मिट्टी आकाश में उड़ती है उसी प्रकार उसका यश भी आकाश में उड़ा और सौधर्मन्द्र की सभा में पहुँचा। सौधर्मन्द्र ने नंदिषेण की सेवा की प्रशंसा की, परन्तु सभा में उपस्थित दो देवों से उसकी प्रशंसा सहन नहीं हुई। अतः उन दोनों में से एक रोगी साधु बना और दूसरा उसका सहचर बना।

(५)

ठीक मध्याह्न का समय था। नंदिषेण के छट्ठ का पारणा था। कोई मुनि वीमार है अथवा नहीं - इसकी पूरी जाँच करके जब वह आहार करने बैठा और कौर हाथ



मुनि ने कहा, नंदिषेण! आत्महत्या दुःख से मुक्त होने का मार्ग नहीं है!  
सौभाग्य से ही मानव भव मिलता है.

में लिया कि एक अर्धेड़ उम्र का मुनि दण्ड पछाडता हुआ आया और बोला, 'कहाँ गया वह वैयावच्च करने वाला नंदिपेण?'

'ये रहा महाराज! यह कह कर नंदिपेण आहार का कौर पात्र में रख कर आहार पर वस्त्र ढक कर खड़ा हुआ और मुनि का अभिवादन किया।

'अरे भले वैयावच्ची! नगर के बाहर वृद्ध साधु अतिसार रोग से पीड़ित है। उसे दस्तें लगती हैं, चीखता-चिल्लाता है और तू तो शान्ति से आहार करने बैठा है। अहा! ठीक है तेरी वैयावच्च की ख्याति!'

'चलो महाराज! कह कर नंदिपेण उस मुनि के साथ दो कदम चला। इतने में वह आगन्तुक मुनि बोला, जल के बिना वहाँ जाकर करोगे क्या? साथ में जल तो ले लो।'

नंदिपेण घड़ा लेकर घर घर जल के लिए घूमा परन्तु देव-माया से कहीं शुद्ध जल नहीं मिला। नंदिपेण घूमने का अभ्यस्त था। विलम्ब होने के कारण व्याकुल नहीं होता था, परन्तु मुनि वैयावच्च में विलम्ब होता होगा जिससे उसके मन में व्याकुलता बढ़ रही थी। इतने में कुछ शुद्ध जल मिला।

शुद्ध जल लेकर नंदिपेण रोगी मुनि के पास पहुँचा। इतने में वृद्ध ग्लान (रोगी) क्रोधित होकर बोला, 'तुम ही हो नंदिपेण? क्या ढोंग मचाया है? सारा गाँव कहता है कि क्या नंदिपेण की सेवा? परन्तु किसने अनुभव किया है? मैं एक प्रहर से हैरान हो रहा हूँ तब तुम खेलते खेलते थोड़ा जल लेकर आये हो। ऐसा तूत (आडम्बर) न करो तो क्या कोई आयेगा?'

'समय अधिक लग गया, महाराज! क्षमा करें' कह कर नंदिपेण ने उनके अशुद्ध अंगो को स्वच्छ किया।

'ग्लान मुनि की देह स्वच्छ करने के पश्चात् नंदिपेण ने कहा, 'महाराज! आप गाँव में उपाश्रय में चलें तो औषधि आदि की सुविधा रहेगी।'

'नंदिपेण! तू देखता नहीं कि मुझे में एक कदम चलने की भी शक्ति है? सेवा केवल परिश्रम-मजदूरी करने से ही नहीं हो जाती, उसमें बुद्धि का उपयोग भी चाहिये।'

'महाराज! आपने सत्य कहा। मैं आपको अपनी पीठ पर बिठा कर गाँव के उपाश्रय में ले जाऊँ तो आप क्या सहन कर सकेंगे?'

'तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।'

नंदिपेण ने ग्लान (रोगी) मुनि को पीठ पर उठाया और मन्द-मन्द कदमों से बाजार में होकर चला। वहाँ तनिक ठोकर लगी और झटका लगा तो रोगी मुनि बोला, 'ए सेवाभावी! ध्यान रख कर चल। सेवा करते करते तू मुझे भारी वेदना पहुँचाता है। तू मुझे औषध करने के लिए ले जा रहा है अथवा मार्ग में मेरा काम तमाम करना

चाहता है?’

‘महाराज! क्षमा करें। आपको कष्ट होता है उसमें मेरी असावधानी का दोष है।’  
तनिक चलने पर रोगी मुनि ने दुर्गन्ध मारती विष्टा से नंदिषेण की समस्त देह भर दी।

नंदिषेण ने मुनि को न तो दूर किया अथवा न उनका तिरस्कार किया। वह बोला,  
‘महाराज वीमार हैं क्या करें? देह का धर्म देह पूर्ण करे उसमें उनका क्या दोष?’

ग्लान मुनि का सिर हिलने लगा और वे बोले, ‘धन्य! धन्य! नंदिषेण! तेरी वैयावच्च की इन्द्र ने प्रशंसा की, वैसा ही तेरा परम वैयावच्च है। मेरा अपराध क्षमा कर।’ यह कह कर यह मुनि देव के रूप में उपस्थित हुए और नंदिषेण मुनि को वन्दन करके स्वर्ग में चले गये।

वैयावच्चं निययं, करेह उत्तमगुणे धरंताणं

सव्वं क्रि र पडिवाई, वैयावच्चं अपडिवाई।

उत्तम गुणवान व्यक्ति को वैयावच्च अवश्य करना चाहिये, क्योंकि समस्त गुण प्रतिपाती हैं और वैयावच्च गुण अप्रतिपाती है।

(उपदेशमाला से)



नंदिषेण मुनि, ग्लान मुनि को पीठ पर उठा कर मन्द-मन्द कदमों से बाजार में होकर चले.

## धन्ना एवं शालिभद्र का वृत्तान्त

(१)

प्रतिष्ठानपुर अर्थात् वर्तमान पैठन। वहाँ 'नयसार' सेठ के चार पुत्र थे। छोटे पुत्र का नाम था धन्यकुमार।

सेठ ने इस पुत्र का नाम धन्यकुमार इसलिये रखा कि उसका जन्म होते ही सेठ की ऋद्धि, सिद्धि और प्रतिष्ठा में वृद्धि होने लगी। सेठ धन्य धन्य होने लगे, इसलिये उन्होंने इसका नाम धन्यकुमार रखा।

(२)

धन्यकुमार चतुर एवं वृद्धिमान था। एक वार सेठ ने प्रत्येक पुत्र को बत्तीस-बत्तीस मुद्राएँ देकर कहा, 'जाओ, अपना भाग्य आजमाओ।'

चारों भाई मुद्राएँ लेकर रवाना हुए। एक गया पूर्व दिशा में तो दूसरा गया अन्य दिशा में। चारों अलग अलग गये। उन्होंने आगे जाकर अपनी इच्छानुसार वस्तुएँ खरीदीं, परन्तु उनमें से तीन पुत्र जब घर लौटे तो बत्तीस में से एक भी मुद्रा उनके पास नहीं बची।

धन्ना ने विचार किया, 'इतनी मुद्राओं से क्या व्यापार किया जाये?' उसने एक भेड़ ली और राजमार्ग से अश्व की तरह उसे लेकर चला। इतने में उधर से राजकुमार निकला। उसे भेड़ लड़ाने का अत्यन्त शौक था। उसने धन्ना को कहा, 'क्या तेरी भेड़ मेरी भेड़ के साथ लड़ानी है?'

'हाँ, लड़ा ले।'

'जिसकी भेड़ हारेगी उसको एक हजार स्वर्ण-मुद्राएँ देनी पड़ेंगी' राजकुमार ने शर्त रखते हुए कहा।

धन्ना ने राजकुमार की भेड़ को घूर घूर कर देखा, अपनी भेड़ को भी देखा और शर्त स्वीकार कर ली। दोनों भेड़ों का संघर्ष हुआ। धन्ना को विश्वास था कि राजकुमार की भेड़ भले ही हृष्ट-पुष्ट हो परन्तु मेरी भेड़ सुलक्षणी होने से पराजित नहीं होगी। हुआ भी ऐसा ही, राजकुमार की भेड़ पराजित हो गई।

धन्यकुमार घर आया और पिता के चरणों में एक हजार स्वर्ण-मुद्राएँ रखीं। माता-पिता और भाभियाँ प्रसन्न हो गईं। भाई फीके पड़ गये और कहने लगे, 'इसमें क्या

वड़ा कार्य किया? यह तो जुआ है; सच्चा धन है क्या?’

सेठ ने दूसरे दिन पुनः बत्तीस-बत्तीस मुद्राएँ देकर चारों पुत्रों को भेजा। अनेक विचारों के पश्चात् तीनों ने व्यापार किया, फिर भी मूल धन में से भी कम हो गया।

धन्ना बाजार में खड़ा था। वहाँ उसने एक चाण्डाल के पास रत्नमय पलंग देखा। धन्ना ने उसे पूछा, ‘क्यों, बेचना है?’

चाण्डाल ने कहा, ‘हाँ।’

धन्ना ने उसे पूरी बत्तीस मुद्राएँ दे दी और पलंग लेकर वह घर लौटा। घर आकर ईस-उपले अलग किये तो जगमगाते-चमकते रत्नों का ढेर लग गया।

यह पलंग मूल में तो पैठन के महेश्वर सेठ का था। मरते-मरते भी उसने पलंग के पायों में धन भरा और अन्त तक उसने पलंग नहीं छोड़ा। पुत्रों को प्रतीत हुआ कि पिताजी का पलंग प्रिय था, अतः निकाल दें उनके साथ। पलंग उनके साथ निकाला गया और चाण्डाल को दे दिया, परन्तु चाण्डाल का ऐसा सद्भाग्य कहाँ कि उक्त पलंग उसके पास रहे? पलंग का धन धन्ना के भाग्य में था, अतः वह उसके घर आया।

धन्ना इतना-इतना धन लाया फिर भी बड़े भाई तो उसकी ईर्ष्या ही करते, जिससे धन्ना तंग आ गया और घर छोड़ कर प्रातः शीघ्रता से अकेला निकल गया।

### (३)

चलते-चलते मार्ग में एक खेत आया। धन्ना उस खेत के किनारे बैठ गया। मध्याह्न का समय होने से खेत का किसान भोजन करने बैठा और धन्ना को भोजन करने का निमन्त्रण दिया। धन्ना को भूख तो लगी थी परन्तु ‘मैं विना परिश्रम किये नहीं खाऊँगा’ - यह कह कर उसने भोजन करने से इनकार कर दिया।

धन्ना ने हल लिया और उसे जोत कर तनिक आगे बढ़ाया तो वह भूमि में उतरा। धन्ना ने तनिक बल लगाया तो ‘कड़िंग’ की ध्वनि हुई। धन्ना और किसान झुके तो उन्हें स्वर्ण के सात चरु दृष्टिगोचर हुए।

किसान ने कहा, ‘भाई! ये चरु तुम्हारे।’ धन्ना बोला, ‘नहीं, भाई! खेत तुम्हारा है और धन मेरा कहाँ से?’

‘खेत तो मैं वर्षों से जोतता रहा हूँ। अभी तक क्यों चरु कभी नहीं निकले?’ किसान ने कहा।

धन्ना तो चलने लगा, परन्तु किसान ने वहाँ गाँव बसाया और उसका नाम रखा ‘धन्यपुर’।

### (४)

धन्यकुमार घूमता-घूमता उज्जयिनी पहुँचा, जहाँ राजा की ओर से एक ढिंढोरा पीटा

जा रहा था, जिसमें घोषणा की जा रही थी कि सरोवर के तट पर खड़े रह कर सरोवर के मध्य स्थित खम्भे को जो गाँठ लगा दे, उसे राजा मंत्री बनावेंगे। धन्यकुमार ने उक्त गाँठ लगा दी। उसने ऐसा किया कि सरोवर के तट पर स्थित एक वृक्ष से रस्से का सिरा बाँध दिया और दूसरे सिरे को हाथ में रख कर सम्पूर्ण सरोवर के तट पर फिरा। तत्पश्चात् वृक्ष से बँधा सिरा खोल कर उसका फन्दा बनाकर उसमें दूसरा सिरा पिरो दिया और आमने-सामने खींचा, जिससे रस्सी की गाँठ खम्भे के लग गई धन्यकुमार उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत का मंत्री बन गया।

एक दिन धन्यकुमार अपने महल की अटारी पर बैठा था। उस समय उसने दीनहीन दशा में अपने परिवार को दूर से आता हुआ देखा। वह तुरन्त नीचे उतरा और अपने परिजनों को ले आया। उन्हें घर, वस्त्र, आभूषण आदि सब दिये और पूछा कि, 'ऐसा कैसे हो गया?' धन्य के पिता ने कहा, 'तू घर से चला गया यह बात जब राजा को ज्ञात हुई तब उसने हमें धमकी दी और धन-सम्पत्ति छीन कर हमें निकाल दिया।'

कुछ ही दिनों के पश्चात् यहाँ भी भाईयों ने उपद्रव किया अतः भरा-पूरा घर छोड़ कर धन्य वहाँ से निकल पड़ा और जा पहुँचा राजगृही नगरी में।

(५)

राजगृही का राजा श्रेणिक था। चारों ओर उसकी ख्याति थी परन्तु उसका एक भारी कष्ट यह था कि अभयकुमार जैसा मंत्री राजगृही छोड़ कर चण्डप्रद्योत के राज्य में



किसानने कहा, भाई! ये चठ तुम्हारे हैं! धन्ना ने कहा, नहीं, भाई! खेत तुम्हारा है और धन मेरा कहाँ से?

चला गया था, जिससे पग-पग पर श्रेणिक को अत्यन्त परेशानी उठानी पड़ती थी।

महाराजा श्रेणिक का संचनक हाथी एक बार पागल हो गया। मार्ग में जो आता उसे वह तोड़ डालता था, बालकों को गैद की तरह उछाल देता और घर एवं दुकानें तोड़ डालता था।

राजगृही में इस हाथी को वश में करने वाला कोई नहीं मिला। राजा ने ढिंढोरा पिटवाया। धन्ना ने हाथी को वश में करने का कार्य अपने सिर लिया। उसने युक्ति-प्रयुक्ति से हाथी को वश में कर लिया। अतः उसका जय जयकार हुआ। जैसा पहले अभयकुमार बुद्धि-निधान गिना जाता था वैसा ही अब राजगृही में धन्यकुमार माना जाने लगा। राजा को कोई कठिनाई आती तो उसका निराकरण धन्य को ही करना पड़ता था।

राजगृही में गोभद्र सेठ रहता था। उसके पास अपार सम्पत्ति थी और उसकी प्रतिष्ठा भी बड़ी थी। स्वर्ण के ढेर के ढेर उसके घर लगते थे। आधी रात के समय किसी को धन की आवश्यकता पड़ती तो लोग गोभद्र के घर जाकर ले आते।

एक बार एक काने धूर्त ने दुकान पर बैठे हुए सेठ के समक्ष एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ रख कर एक आँख मांगी। सेठ ने कहा, 'कैसी आँख?'

'सेठ! चालाकी रहने दो। प्राप्त की हुई प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जायेगी, आँख दे दीजिये।'

वह काना धूर्त महाराज श्रेणिक के दरवार में पहुँचा और उसने राजा से सेठ के विषय में परिवाद किया। राजा ने गोभद्र सेठ को बुलवाया। सेठ ने कहा, 'मैं निर्दोष हूँ। समस्त मंत्री रोच में पड़ गये। कोई व्यक्ति समस्या सुलझा नहीं सका। तब धन्ना बोले, 'गोभद्र सेठ! लाख मुद्राएँ ले लो और आँख दे दो। लाख मुद्राएँ जैसी बड़ी रकम वैसे ही आपको कोई देने आयेगा?'

धूर्त हर्षित होकर बोला, 'मंत्रीवर! मुद्राओं की आवश्यकता के खातिर लोग मुझे काना काना कहते हैं वह सहन क्रिया, परन्तु अब मैं काना नहीं रहना चाहता। मेरी आँख दिलवा दो।'

'अवश्य, तुझे अपनी आँख मिलनी चाहिये, चिन्ता मत करो। परन्तु सुन, 'सेठ राजगृही के बड़े धनी व्यक्ति हैं। इनके घर पर लोग अनेक आभूषण गिरवी रख कर जाते हैं। अधिक धन की आवश्यकता पड़ने पर अनेक व्यक्ति नेत्र भी गिरवी रखकर जाते हैं। सेठ के यहाँ अनेक आँखें हैं। उनमें से तेरी आँख कैसे ढूँढ़ी जाये? तू यदि तेरी यह दूसरी आँख दे दे तो उससे तोल आकार मिला कर सेठ तुझे तुरन्त आँख दे दंगे।'

धूर्त व्यक्ति काँप उठा, 'मंत्रीवर!' कहते हुए उसकी जीभ रुक गई। वह नत मस्तक हो गया और राजा ने धूर्त को निकाल दिया।

गोभद्र सेठ घर गये और सिर पर आई आपत्ति टल जाने से अत्यन्त प्रसन्न हुए।

गोभद्र सेठ के सुभद्रा नामक सुलक्षणी पुत्री थी, जिसे सेठ ने धन्ना को व्याह दी और उसके साथ स्थायी सम्बन्ध स्थापित कर लिया।

राजगृही में धन्ना बुद्धि-निधान माना जाने लगा। श्रेणिक वात वात में धन्यकुमार को पूछता। कल का परदेशी धन्ना आज राजगृही के श्रेणिक के समस्त मंत्रियों में मुख्य मंत्री बन गया।

थाड़े दिन व्यतीत हुए कि भटकते-भटकते भाई और माता-पिता राजगृही में आये। धन्ना ने उन्हें पहचान लिया। उसमें परिवार-प्रेम जाग्रत हुआ, उन सबका सत्कार किया और उन्हें अच्छे स्थान पर रखा, परन्तु कुछ ही दिनों में वे भाई सब भूल गये और धन्ना से ईर्ष्या करने लगे।

इतने में वहाँ एक ज्ञानी मुनि मिले। उन्होंने धन्ना द्वारा पूर्व भव में प्रदत्त दान के प्रवाह और तीन भाईयों द्वारा दिये गये दान के पश्चात् किये गये पश्चाताप की बात कही। तीनों भाई दीक्षित हो गये और धन्ना ने श्रावक व्रत ग्रहण किया।

(६)

एक वार धन्नाजी स्नान करने बैठे थे। सुभद्रा उन्हें स्नान करा रही थी, उस समय



धन्ना ने धूर्त से कहा, तू यदि तेरी यह दूसरी आँख दे दे तो उससे तोल-आकार मिला कर शंठ तुझे तेरी आँख तुरंत दे दूँगा।

उसकी आँखों में से धन्ना की पीठ पर आँसू पड़े। उष्णता प्रतीत होने पर धन्ना ने पीछे देखा तो सुभद्रा के नेत्रों में आँसू थे।

धन्ना ने सुभद्रा को पूछा, 'तू रोती क्यों है।'

'मेरे भ्राता शालिभद्र को संयम की रट लगी है। वह नित्य एक पत्नी का त्याग करता है। वत्तीस दिनों में वह सब छोड़ कर चला जायेगा। सुख में पला हुआ इकलौता भ्राता भावी कष्टों को कैसे सहन करेगा?'

'यह कोई संयम की धुन कही जाती है? जिसे धुन लगे वह क्या कभी थोड़ा थोड़ा छोड़ता होगा' धन्ना ने हँसते-हँसते कहा।

'नाथ! ये सब बातें कहने की होती हैं परन्तु त्याग करना कठिन है। यह तो अनुभव के विना समझ में नहीं आता। करके देखो तो पता चले।'

'सुभद्रा, सच्ची उपकारी है। मुझे तेरी अनुमति की आवश्यकता थी। देख, अब मैं जाता हूँ।'

सुभद्रा आदि आठों पत्नियाँ आँसू टपकाती रहीं और धन्नाजी सब छोड़ कर दूर दूर चल दिये।

## शालिभद्र

(१)

प्रकृष्ट पुण्यशालियों को धन अर्जित करना नहीं पड़ता। उनका पुण्य ही उनके समक्ष सम्पत्ति, वैभव एवं भोग-सामग्री प्रस्तुत करता है। ऐसे पुण्यशालियों में परम प्रकृष्ट शालिभद्र का जन्म राजगृही के करोड़पति सेठ गोभद्र एवं सेठानी भद्रा के घर हुआ था।

यह जीव भद्रा के गर्भ में अवतरित होने पर उसने स्वप्न में शालि से परिपूर्ण खेत देखा। पुत्र का जन्म होने पर स्वप्न के अनुसार सेठ ने उसका नाम 'शालिभद्र' रखा।

पाँच धाय-माताओं के द्वारा लालन-पालन किया जाता हुआ शालिभद्र बड़ा हुआ और उसने एक के पश्चात् एक इस तरह वत्तीस कन्याओं के साथ विवाह किया।

गोभद्र सेठ ने अपनी पुत्री सुभद्रा का विवाह धन्ना के साथ कर दिया था और पुत्र का वत्तीस गुलक्षणी युवतियों के साथ विवाह किया। उन्होंने करोड़ों की सम्पत्ति से युक्त घर शालिभद्र को सौंप कर दीक्षा अङ्गीकार की। पुत्र-मोह के कारण भद्रा सेठानी के लिये दीक्षा का उदय नहीं आया। वे सदा पुत्र की देखभाल में निमग्न रहती।

अल्प काल के उत्तम चारित्र ने गोभद्र को महर्द्धिक देव बनाया।

## (२)

गोभद्र ने देवगति प्राप्त करके जब अपने पूर्व भव का स्मरण किया तो उन्हें शालिभद्र का स्मरण हुआ। उसके प्रति उनका मोह जाग्रत हुआ। धन-वैभव से सम्पन्न घर फिर भी सुकोमल पुत्र भोला शालिभद्र मानव-जीवन की नित्य शीर्ण-विशीर्ण होने वाली सामग्रियों की प्राप्ति के लिए क्यों प्रयत्न करें? मैं उसे मनुष्य-भव में देव जैसा सुख क्यों न प्रदान करूँ?

उसने तैंतीस पेटियाँ तैयार करवाई। उनमें प्रत्येक में तीन-तीन विभाग किये। एक में आभूषण, दूसरे में सुन्दर वस्त्र और तीसरे में अमृत-रस का स्मरण कराये ऐसी मधुर मिष्ठान। नित्य ये तैंतीस पेटियाँ शालिभद्र के आवास पर आती और वत्तीस पत्नी तथा तैंतीसवें शालिभद्र उनका उपभोग करते। आज के वस्त्र कल नहीं, आज के आभूषण कल नहीं, ऐसा वैभव था शालिभद्र का। ये उतरे हुए आभूषण एवं वस्त्र फेंकने के लिए दो कुँए रखे, ताकि जो उतरें वे सब उनमें फेंकी जा सकें।

## (३)

‘लो कम्बल, लो कम्बल’ की टेर लगाते हुए चार नेपाली व्यापारी राजा श्रेणिक के महल के पास होकर निकले। महारानी चेलना ने उन्हें रोक कर एक कम्बल का मूल्य पूछा।

‘राजमाता! ये रत्न-कम्बल हैं। इन में से प्रत्येक का मूल्य सवा लाख स्वर्ण-मुद्रा है। ये वर्षा से भीगते नहीं हैं, ग्रीष्म-ऋतु में शीतलता प्रदान करते हैं और शीतकाल में उष्णता प्रदान करते हैं। ये अग्नि में जलते नहीं, तीनों ऋतुओं के रोग नष्ट करते हैं और सदा शुद्ध रहते हैं’ - कम्बल का महत्त्व समझाते हुए वृद्ध व्यापारी ने कहा।

रानी कम्बल क्रय करने की माँग करे उससे पूर्व ही श्रेणिक ने व्यापारियों को कहा, ‘भाई! कम्बल में गुण तो होंगे परन्तु पहनते ही ग्वालों जैसा प्रतीत हो वह रत्न-कम्बल सवा लाख स्वर्ण-मुद्राओं में खरीदने की अपेक्षा उतने मूल्य में पुरुष-रत्न क्यों न रखें जो अवसर पर मार्ग निकालें?’

व्यापारियों ने गठरी वाँधी और वहाँ से तनिक दूर जाने के पश्चात् एक व्यापारी बोला, ‘राजगृही का राजा रत्न-कम्बल नहीं खरीद सका तो दूसरा कौन खरीदने वाला है?’

दूसरा व्यापारी बोला, ‘धनवानों की नगरी है, राजा न ले और कोई सेठ खरीद ले।’ ये शब्द निचली मंजिल के झरोखे में बैठी भद्रा सेठानी के कानों में पड़े।

सेठानी ने दासियों के द्वारा व्यापारियों को बुलवाया और पूछा, ‘क्या बेचने आये हो?’

‘माताजी! रत्न-कम्वल।’

‘कितने हैं?’

‘सोलह।’

‘सोलह कम्वलों से मेरा काम नहीं चलेगा, बत्तीस चाहिये। पुत्र की बत्तीस बहुओं में से सोलह कम्वल किसको दूँ और किसको न दूँ?’

व्यापारियों में से एक बोला, ‘माताजी! राजा तो एक कम्वल भी नहीं खरीद सकता और आप बत्तीस की बात कर रही हैं? ये दो सौ, पाँच सौ के कम्वल नहीं हैं। एक कम्वल का मूल्य सुना है? सवा लाख स्वर्ण-मुद्रा हैं।’

भद्रा माता ने दासी को बुला कर कहा, ‘व्यापारी के पास से सोलह कम्वल ले ले और कोपाध्यक्ष को इनका मूल्य चुकाने का कह दे।’

व्यापारी दंग रह गये। कुछ ही समय में कोपाध्यक्ष ने व्यापारियों के हाथ में सोलह कम्वलों का मूल्य दे दिया। वे ‘क्या समृद्धि! क्या उदारता!’ कहते हुए सिर हिलाते हुए राजगृही की प्रशंसा के पुल बाँधते हुए चले गये।

दासी ने प्रातःकाल में शालिभद्र की पत्नियों को स्नान करते समय एक-एक कम्वल के दो-दो टुकड़े करके प्रत्येक को दे दिये और कहा, ‘माताजी ने सवा लाख स्वर्ण-मुद्राओं में यह रत्न-कम्वल आपके पहनने के लिए खरीदे है।’

बहुओं ने माता के मान की खातिर कम्वल पहने तो सही परन्तु दासी को कहा कि, ‘ये तो अत्यन्त चुभते हैं।’

दासी ने यह बात भद्रा माता को कही। भद्रा माता ने सोचा कि देवदूष्य पहनने वाली पुत्र-वधुओं को रत्न-कम्वल कैसे अच्छे लगेंगे? ‘दासी तू उन्हें कह दे कि चुभते हो तो उतार दो। मन विगाड कर अथवा मन दुःखी कर के माता को बुरा लगेगा ऐसा सोचकर मत पहनना।’

दासी से माता का सन्देश सुनकर पुत्र-वधुओं ने पाँच पाँछ कर कम्वल फेंक दिये और उतरी हुई वस्तुएँ जिस कुँए में फेंकी जाती थी उस कुँए में फेंक दिये।

रानी चलना झरोखे में बैठी थी। उसने रत्न-कम्वल बेच कर लौटते हुए व्यापारियों को देखा तो दासी के द्वारा उन्हें पूछवाया कि ‘कम्वल कहाँ गये?’

व्यापारियों ने कहा, ‘भद्रा सेठानी ने सोलह कम्वल खरीद लिये।’

चेलना को राजा की कृपणता एवं शुष्कता बुरी लगी। उसने हठ की कि मुझे रत्न-कम्वल चाहिये। राजा ने यह बात अभयकुमार को कही। अभयकुमार ने एक मंत्री को भद्रा सेठानी के पास भेजा और रत्न-कम्वल की माँग की।

भद्रा माता ने अत्यन्त संकोच पूर्वक कहा, ‘रत्न-कम्वल तो आज ही पुत्र-वधुओं ने

उतार कर कुँए में फेंक दिये हैं और ऐसी उतरी हुई वस्तु भला राजा को कैसे दी जा सकती है?’

मंत्री द्वारा कही गई बात अभयकुमार ने सुनकर राजा को कह दी। राजा, रानी, अभयकुमार सब को आश्चर्य हुआ कि ऐसा पुण्यशाली नागरिक हमारे नगर में निवास करता है जिसकी स्त्रियाँ सवा लाख स्वर्ण-मुद्राओं के मूल्य के वस्त्र आज पहन कर कल फेंक देती हैं?

‘अभय! वृत्ता उस शालिभद्र को। मुझे उस पुण्यशाली के दर्शन करने हैं’ - श्रेणिक ने अत्यन्त उत्सुकता से कहा।

अभयकुमार शालिभद्र के निवास पर गया। उसकी ऋद्धि देख कर वह अवाक् रह गया। उसने भद्रा माता को कहा, ‘माता! आपके पुत्र को राजा निहारना चाहते हैं।’

‘मंत्रीवर! हमारा परम पुण्योदय है कि राजा को हमारा स्मरण आया, परन्तु मेरा पुत्र जिसने सुख एवं वैभव के अतिरिक्त कुछ भी देखा नहीं है, अत्यंत सुकुमार होने से राजमार्ग में उड़ने वाली धूल भी उसके लिए असह्य वनेगी, अतः आप युक्तिपूर्वक राजाजी को हमारे निवास पर लाकर क्या हमारा निवास पावन नहीं करेंगे? राजा लोग सदा मंत्रियों के नेत्रों से देखने वाले होते हैं।’

अभयकुमार को यह कार्य दुष्कर प्रतीत हुआ परन्तु विचार करके उन्होंने कहा, ‘आप तनिक भी चिन्ता न करें। मैं और धन्यकुमार सब ठीक कर लेंगे।’

अभयकुमार राजमहल में गया और श्रेणिक को शालिभद्र के आवास पर लाने की युक्ति सोचने लगा।

### (५)

‘महाराज! क्या शालिभद्र की समृद्धि! क्या उसका वैभव! शालिभद्र को यहाँ निहारने की अपेक्षा तो उसके आवास पर ही जाकर हम निहारें तो ही उसकी समृद्धि का अनुमान लगेगा। शारत्त्रों में दोगुंदक देव सुने हैं, देवों की ऋद्धि-समृद्धि की प्रशंसा सुनी है, परन्तु यहाँ तो देव अर्थात् शालिभद्र और देवभवन अर्थात् शालिभद्र की हवेली। महाराज! उसने न तो आज तक कभी भूमि पर पाँव रखा है और न उसे संसार की किसी रीति-रिवाज का ध्यान है।’

राजा का मन शालिभद्र के निवास पर जाने का हुआ और भद्रा सेठानी ने निवेदन किया जिसे राजा ने सम्मान पूर्वक मान्य कर लिया।

पग-पग पर सम्मान प्राप्त करता हुआ श्रेणिक राजा गोभद्र सेठ की हवेली पर आया और एक के पश्चात् एक मंजिल चढ़ते-चढ़ते राजा का मन विचार में पड़ गया। राजगृही का प्रतापी गिना जाने वाला मैं श्रेणिक सचमुच इस धनी सेठ के समक्ष रंक हूँ। संसार

के रस का लाभ रसिक लोग किस प्रकार लेते हैं उसका स्वप्न में भी मुझे ध्यान नहीं था, जिसे मैं यहाँ निहार रहा हूँ। क्या इस भवन के रत्नजड़ित चित्र हैं? क्या इस भवन के पावदान! झूमर! क्या इस भवन की स्फटिक रत्न मय भूमि एवं वैभव! एक के पश्चात् एक मंजिल चढ़ते हुए राजा को मनुष्य गति का पामर मानव मानो एक के पश्चात् एक देवलोक में जा रहा हो उस प्रकार प्रतीत हुआ। चौथी मंजिल पर राजा सिंहासन पर बैठा। उसने आस-पास दृष्टि फिरा कर भद्रा सेठानी से पूछा, 'शालिभद्र कहाँ है?'

'महाराज! वुला लाती हूँ। वह ऊपर सातवीं मंजिल पर है।'

'वत्स!' कह कर माता ने सातवीं मंजिल पर पाँव रखा। पुत्र वैठ गया। माता कदाचित् ही ऊपर आती थी, अतः शालिभद्र को लगा कि अवश्य ही किसी अनिवार्य कार्य से माताजी ऊपर आई हैं।

शालिभद्र ने माता का अभिवादन किया और पूछा, 'माता! क्या आज्ञा है?'

'पुत्र! अपने यहाँ श्रेणिक आये हैं, उनको पहचान कर तू उनसे परिचय कर।'

'माता! इसमें मुझे क्या पूछती हो? श्रेणिक हो, राजा हो अथवा कोई भी हो; उसकी आवश्यकता हो तो आप मूल्य देकर खरीद लें। मुझे कोई पहचान नहीं करनी और परिचय नहीं करना।'

'पुत्र! श्रेणिक कोई किराना नहीं है। वे तो अपने स्वामी, राजा हैं। उनकी नाराजगी से हम घड़ी भर में उखड़ सकते हैं।'

'क्या माता, श्रेणिक हमारा ऊपरी है? हमारा स्वामी है? उसकी नाराजगी से हम घड़ी भर में नष्ट हो जायें, हम पामर हैं?'

माता को प्रतीत हुआ पुत्र को मैं अधिक स्पष्ट करके दुःखी न करूँ, इस कारण उसने कहा, 'तू मेरे साथ चल।'

शालिभद्र और भद्रा नीचे आये। मोर वर्षा के लिए तरसता है उसी प्रकार उसके दर्शन हेतु तरसते श्रेणिक ने शालिभद्र को देखने के लिए मुँह ऊपर किया। सम्पूर्ण परिवार में विजली की क्षणिक चमक जिस प्रकार सब को प्रकाशमय कर देती है उसी प्रकार उसने सबको ज्योतिर्मय कर दिया। श्रेणिक खड़ा हुआ, शालिभद्र का आलिंगन किया और उसे कुछ समय में गोद में बिठाया। इतने में तो अग्नि के सम्पर्क से जिस प्रकार मखन पिघलता है उसी प्रकार उसके पसीने की धाराएँ बह चली।

श्रेणिक ने शालिभद्र को मुक्त किया और कहा, 'पुत्र, तू इच्छानुसार वैभव का उपभोग कर। ऐसे वैभव से हम और राजगृही गौरव का अनुभव करते हैं।'

शालिभद्र ऊपर गया, राजा को स्नान, भोजन के लिए निमन्त्रण दिया। स्नान करते समय राजा की अंगूठी गिर गई। चतुर दासी समझ गई कि राजा की अंगूठी खो गई

है। उसने तुरन्त निर्माल्य वस्तुओं के कुँए में से आभूषण बाहर निकाले। स्वर्ण एवं हीरे के झगमगाते आभूषणों में लोहे की कड़ी के समान राजा की अंगूठी प्रतीत हुई। राजा ने पूछा, 'ये आभूषण किसके हैं?'

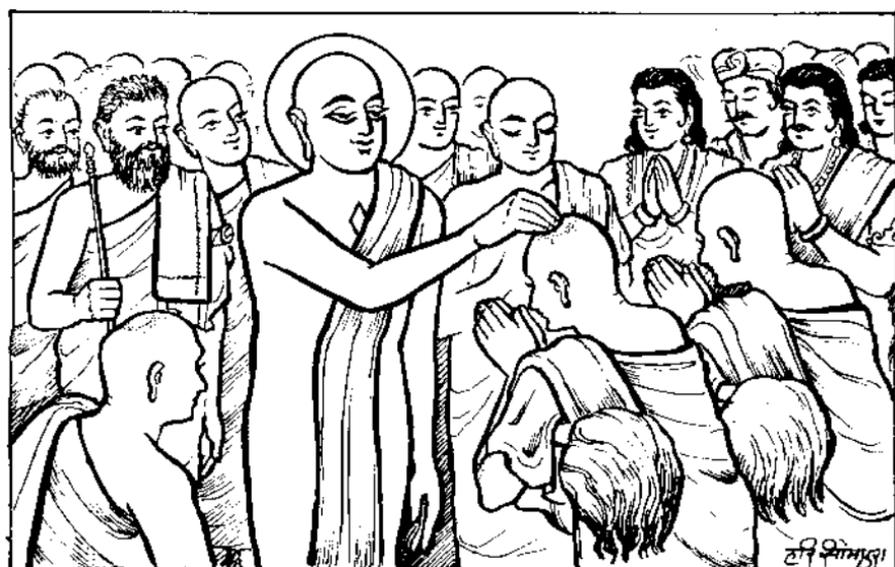
दासी ने उत्तर दिया, 'राजेश्वर! नित्य पहन कर फैंके हुए शालिभद्र तथा उनकी पत्नियों के हैं।'

तत्पश्चात् भोजन करके राजा अपने महल में गया, परन्तु जीवन पर्यन्त वह शालिभद्र की समृद्धि का भूल नहीं सका।

### (६)

राजा चला गया परन्तु शालिभद्र के मन में से राजा नहीं हटा। मेरे ऊपर राजा है और मैं प्रजा हूँ। यह समृद्धि, यह वैभव उसकी नाराजगी से छिन जाये तो यह वैभव किस काम का? शालिभद्र ने वहीं पर निर्णय किया कि यह समृद्धि नहीं चाहिये। उसने माता को यह बात कही, 'माता! मैं श्रेणिक अथवा किसी अन्य राजा का प्रजा-जन नहीं रहना चाहता। मैं सब प्रकार से स्वतन्त्र होना चाहता हूँ और उसका मार्ग संयम है। माताने बहुत समझाया, परन्तु वह सब निष्फल हुआ। उसने नित्य एक एक पत्नी छोड़नी प्रारम्भ की।'

शालिभद्र को बत्तीस दिन बत्तीस युग के समान कठिन प्रतीत होने लगे। इतने में उसने देवदुंदुभि सुनी और जान लिया कि भगवान महावीर नगरी में समवसरे है। उसने



यथा एवं शालिभद्र ने चरम तीर्थपति प्रभु महावीर के पास संयम अंगीकार किया.

वहाँ जाने का विचार किया इतने में नीचे धन्नाजी दृष्टिगोचर हुए और बोले, 'कायर शालिभद्र! संयम की धुन वाले को क्या कभी एक एक स्त्री का त्याग शोभा देता होगा? त्याग-भावना जाग्रत होते ही सर्वथा त्याग।'

शालिभद्र नीचे उतरा। धन्ना और शालिभद्र को भद्रा माता ने बहुत समझाया, फिर भी वे न समझे और भगवान के पास जाकर उन्होंने संयम ग्रहण किया। उग्र तप, त्याग करके उन्होंने अनशन स्वीकार किया और जहाँ किसी का कोई राजा नहीं है वैसे सर्वार्थसिद्ध विमान में उन्होंने वास किया। तत्पश्चात् सुभद्रा आदि पत्नियों ने भी दीक्षा अङ्गीकार की। आज भी दिवाली पर वही-पूजा के समय 'धन्ना शालिभद्र की ऋद्धि हो' और वही में लिख कर उनके पुण्य नाम का जनता स्मरण करती है।

(धन्व कुमार चरित्र से)

## झांझरिया मुनि की कथा

(१)

प्रतिष्ठानपुर नगर में मकरध्वज राजा शासन करता था। उसकी रानी मदनसेना थी। मानो काम एवं रति साक्षात् मनुष्य के रूप में उत्पन्न हुए हों, इस प्रकार यह राजा और रानी सुशोभित थे।

संसार-सुख का उपभोग करते हुए उनके मदनब्रह्म नामक एक पुत्र हुआ। राजा ने पुत्र का वत्तीस युवतियों के साथ विवाह किया। माता-पिता की शीतल छाया में पलते मदनब्रह्म ने संसार के समस्त वैभवों का अनुभव किया।

एक बार मदनब्रह्म झरोखे में बैठा हुआ था। उस समय उसने एक भव्य इन्द्र-महोत्सव देखा, रंग-बिरंगे वस्त्र पहन कर लोगों को जाते हुए देखा और सम्पूर्ण नगर को आनन्द से हर्ष-विभोर होते देखा।

मदनब्रह्म ने सेवक को पूछा, 'यह क्या है?'

सेवक ने उत्तर दिया, 'यह इन्द्र-महोत्सव है।'

राजकुमार नीचे उतरा और सबके साथ इन्द्र-महोत्सव में सम्मिलित हुआ। जब महोत्सव का समूह नगर के उद्यान में आया तब वहाँ विद्यमान श्रुतकेवली की देशना श्रवण करने के लिए सब प्रजाजन रुके। कुमार भी देशना श्रवण करने के लिए दौड़ा। श्रुतकेवली ने वैराग्यमय देशना प्रारम्भ की और कहा, 'धन, यौवन, भोग सब क्षणिक हैं। सन्ध्या के बादल आकाश में रंगविरंगी छटा उपस्थित करते हैं परन्तु वे घड़ी भर में नष्ट हो जाते हैं। आह्लादक भोजन एक प्रहर व्यतीत होने के पश्चात् दुर्गच्छनीय बन जाता है। उसी प्रकार यह संसार भी नश्वर एवं विरूप है।' यह वैराग्य सबके हृदय में उतरा, परन्तु मदनब्रह्म के तो आत्मा में परिणमित हुआ।

सभी मनुष्य घर आये, कार्य में लग गये और वैराग्य भूल गये परन्तु मदनब्रह्म की दृष्टि से मुनि की देशना ओझल न हुई। उसे अपना सतमंजिला महल मिट्टी के ढेर तुल्य प्रतीत हुआ, आभूषणों का बोझ मजदूर के बोझ सदृश प्रतीत हुआ, स्त्री के हाव-भाव मुखों की चेष्टा तुल्य प्रतीत हुए और माता-पिता का मोह नामसझी युक्त पागलपन का उद्रेक प्रतीत हुआ।

मदनब्रह्म न तो किसी के साथ बात करता था, न किसी के साथ हँसता था, न बोलता

था। पिता को पुत्र का यह व्यवहार देख कर अत्यन्त दुःख हुआ। अतः उसने पूछा कि तू इतना विस्वल क्यों है?

मदनब्रह्म ने कहा, 'पिताजी! मुनिवर की देशना श्रवण करने के पश्चात् मुझे तनिक भी चैन नहीं पड़ रहा है। मुझे अपना जीवन क्षणिक प्रतीत होता है और सच्चा मार्ग संयम का प्रतीत होता है। आप मुझे संयम-पथ पर जाने की अनुमति प्रदान करें।'

'पुत्र! अभी तक तू बालक है। संयम क्या है उसका तुझे पता नहीं है और संयम में क्या क्या कष्ट है उसका तुझे ध्यान नहीं है।'

'पिताजी! संयम चाहे जितना कठिन हो, उसमें चाहे जितने कष्ट हों तो भी मैं उसका पालन करूँगा, परन्तु मुझे यह माया प्रिय नहीं है।'

माता और रानियों ने मदनब्रह्म को अत्यन्त समझाया परन्तु उसे तो जीवन का एक एक पल महा मूल्यवान् प्रतीत होता था और वह संयम विहीन जाने से उसे निरर्थक प्रतीत होता था। पुत्र को अटल देख कर दुःखी हृदय से माता-पिता ने उसे अनुमति प्रदान की और रानियों ने असहाय बन कर अनुमति प्रदान की।

## (२)

मदनब्रह्म ने संयम ले लिया। उसकी देह स्वर्ण-तुल्य कान्ति युक्त थी जो संयम के ताप से तप कर अधिक ज्योतिर्मय बन गई। उसका रूप तप-तेज से अधिक चमकने लगा। पाद-विहार से जगत् को पावन करता हुआ वह मुनि ताम्बावती नगरी में पहुँचा।

ग्रीष्म ऋतु का दिन था। मध्याह्न के समय आकाश अंगारों की वृष्टि कर रहा था। उस समय तप-तेज से तेजस्वी मुनि ने गोचरी के लिए प्रस्थान किया। शहर के मध्य भाग में से निकलते हुए मुनि पर झरोखे में वैठी हुई युवती की दृष्टि पड़ी जिसका पति परदेश में था। मुनि पर दृष्टि पड़ते ही उसका रोम-रोम पुलकित हो गया और वह सोचने लगी कि, 'यह कोई सामान्य साधु नहीं है। उसका भाल, उसके केश-कलाप और उसके नाखून उसके राज-बीज के प्रमाण हैं।' युवती ने तुरन्त दासी को आदेश दिया कि मुनि को गोचरी के लिये बुला ला।

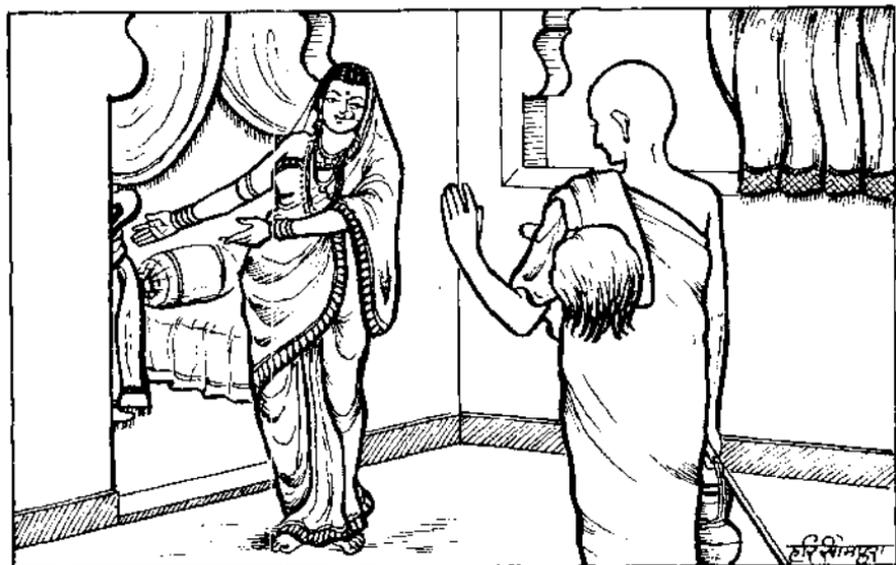
नीची दृष्टि करके चलते हुए मुनि के पास आकर दासी ने प्रणाम किया और निवेदन किया, 'महाराज हमारी हवेली में पधारें।'

मुनि ने दृष्टि ऊपर की और भावना देख कर वे उसके पीछे चले। हवेली में प्रविष्ट होते ही देवाङ्गना को लज्जित करे ऐसी रूपवती गृहिणी ने 'पधारो महाराज' कह कर मुनि का स्वागत किया।

मुनि भवन के चौक में आये और उन्हें स्वादिष्ट लड्डू प्रदान करते हुए वह गृहिणी बोली, 'महाराज! इस गर्मी में आप मैले-कुचैले वस्त्र कैसे सहन करते हैं?'

मैले कुचैले वस्त्रों वाले पवित्र मुनि ने उज्ज्वल वस्त्रों में ढँके हुए युवती के मैले मन को पहचान लिया और वे मौन बने लौट रहे थे कि युवती उन्हें हाथों से रोक कर खड़ी हो गई और लज्जा का परित्याग करके नेत्र मटकाती हुई बोली, 'महाराज! यह उग्र क्या संयम की है? क्या इस सुन्दर, सुकोमल देह का, जंगल के पुष्प की तरह विना उपभोग के नष्ट होने के लिए गुजन हुआ है? आप ये मैले वस्त्र उतार फेंकिये और मैं दे रही हूँ वे उज्ज्वल एवं सुन्दर वस्त्र धारण करें। यह भवन, ये सेवक, यह वैभव और मैं ये सब आपका ही है। मुनिवर! मुझे विरहाग्नि सता रही है। मुझ काम-विह्वल का आप आलिंगन करें और सुधारस का सिंचन करें। आप दयालु हैं, मुझ पर दया करके मुझे अपनी बनायें।'

मुनि नीची दृष्टि रखकर बोले, 'तू भोली वाला है, तू सरल है। विषयों के विष का तुझे पता नहीं है। मैंने विषयों का विष निहारा है और फिर उनका परित्याग किया है। जगत् में दो पाप बड़े हैं - एक यारी और दूसरा चोरी। ये दो पाप इस भव में अपयश एवं कारागार दिलवाते हैं और पर-भव में घोर कष्ट प्रदान कराते हैं। उत्तम एवं कुलीन कुल में उत्पन्न हे वाला! कुलीन के लिये पर की कामना शोभा नहीं देती। मैं कुलीन हूँ और कुलीन संस्कारों में ही मैंने जीवन यापन किया है। उसे में दूषित कैसे करूँ? शील चिन्तामणी रत्न तुल्य है। उसे अल्प कालीन सुख के लिये तू क्यों खो रही है? जो मूर्ख हो वही महल होते हुए भी खुल में वर्षा से भीगता है। मैंने मन,



मुनि बोले, तू भोली बाला है, विषयों के विष को तू क्यों जानें?  
मैंने विषय-विष को निहार कर उसका परित्याग किया है.

वचन और काया से व्रत अङ्गीकार किया है उसका मैं धरावर पालन करूँगा और हे कुलीन युवती! तू भी शील व्रत का पालन करके अपना जीवन उज्ज्वल कर।'

फाँद चूकी शेरनी जिस प्रकार क्रोध से तमतमा उठती है, उसी प्रकार वह युवती साधु को घुडकियाँ वताती हुई बोली, 'पकड़ो इस साधु को।'

मुनि बल पूर्वक भवन से बाहर निकल गये परन्तु उसने उनके पाँव में झाँझर (नूपुर) पहना दिया और चीखती-चिल्लाती उनके पीछे दौड़ी और कहती रही, 'पकड़ो पकड़ो इस मुनि को। इसने मेरा सतीत्व भंग करने के लिये बलात्कार करने का प्रयत्न किया और मेरा नूपुर (झाँझर) लेकर भाग रहा है।'

निर्दोष लोग थोड़े ही रहस्य जानते हैं? वे तो कहने लगे कि - 'यह कैसा दुष्ट मुनि है? भिक्षा देने वाली स्त्री के साथ बलात्कार करने लगा और नूपुर (झाँझर) लेकर भागा।' लोगों ने उसका पीछा किया और मुनि को पकड़ कर राजा के पास ले गये।

राजा उस समय झरोखे में बैठा हुआ था। उसने नीचे लोगों की भीड़ देखी तो वह नीचे उतरा और उसने मुनि को पूछा, 'महाराज! सत्य बात कहें।' मुनि मौन रहे।

लोग बालक, 'इसमें सत्य बात दीपक के समान है। नूपुर (झाँझर) मुनि के पाँव में पहना हुआ है। स्त्री चीखती हुई - 'मेरे साथ बलात्कार किया है' कह कर पीछा कर रही है।'

राजा ने कहा, 'शान्ति रखो, मैं सब सत्य जानता हूँ। मुनि निर्दोष है, स्त्री दोषी है। मैंने और रानी ने झरोखे में से स्वयं देखा है। इस कुलटा स्त्री ने मुनि के पाँवों में नूपुर (झाँझर) डालकर उन पर असत्य आरोप लगाया है।' लोग तज्जित हुए और मदनब्रह्म मुनि उस समय से 'झाँझरिया मुनि' के नाम से जगत् की जिह्वा से अपने गुणों के लिए प्रशंसा पाने लगे।

### (३)

कंचनपुर नगर के राजा तथा रानी दोनों महल के झरोखे में बैठे हुए थे और नगर के आसपास की हरियाली देख कर प्रफुल्लित हो रहे थे कि रानी की दृष्टि दूर कायोत्सर्ग ध्यानस्थित मदनब्रह्म मुनि पर पड़ी। उन्हें देख कर रानी के नेत्रों से आँसुओं की धारा वह चली। राजा ने रानी को अचानक आँसू आने का कारण पूछा, परन्तु उसका गला भर आने से वह कुछ बोल न सकी।

राजा को सन्देह हो गया। उसने मान लिया कि ऐसे तो अनेक साधु वन में कायोत्सर्ग ध्यान में लीन रहते हैं और रानी ने मेरे साथ आज से पूर्व ऐसे अनेक साधुओं को निहारा है, फिर भी उसके नेत्रों में कभी आँसू नहीं आये। अवश्य ही यह मुनि कोई इसका पूर्व का प्रेमी प्रतीत होता है, जिसके कारण यह मेरे समक्ष कुछ बोल नहीं सकती,

परन्तु आँसुओं के कारण यह उसके प्रति अपना प्रेम छिपा नहीं सकी। राजा-रानी वहाँ से अलग हो गये।

कुछ समय के पश्चात् राजा उद्यान में गया और आदेश दिया कि इस साधु का वध करके इसकी मृत देह को खड्डा खोद कर उसमें गाड़ दो।

सेवक चले और अपने पेट के लिए राजाज्ञानुसार साधु का वध करने लगे। साधु ने तनिक भी विरोध नहीं किया। उसने मन को स्थिर किया, चौरासी लाख जीव योनियों का मन में स्मरण करके उनसे क्षमापना करने लगा और इस प्रकार पाप-कर्म का क्षय करने लगा। ज्यों ज्यों हत्यारे प्रहार करने लगे, त्यों त्यों मुनि पाप का क्षय करने लगे। एक ओर मुनि की देह का घात हुआ और दूसरी ओर कर्मों का घात करके मुनि की आत्मा केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्ति-पद प्राप्त कर गई।

(४)

दूसरे दिन राजा-रानी पुनः प्रातःकाल झरोखे में बैठे हुए थे कि आकाश में उड़ती हुई चील की चोंच में से रक्त-सिंचित मुनि का रजोहरण जहाँ राजा-रानी बैठे थे वहाँ गिरा। रानी ने रक्त-रंजित रजोहरण देखा। कल देखे थे उस दिशा में मुनि दृष्टिगोचर नहीं हुए और चीलों के दल को उस दिशा में दावत करता देखकर रानी ने निश्चय किया कि अवश्य ही यह रजोहरण (ओघा) मेरे भाई मुनि का है।

यह निश्चय होते ही रानी के नेत्रों के आगे अन्धकार छा गया। 'हे भाई!' कहती हुई रानी धड़ाम से नीचे गिर पड़ी और राजा का हृदय मुनि-हत्या के पाप से धड़कने लगा।

'राजन्! इन मेरे भाई मुनि को कल देख कर मेरे नेत्रों में आँसु छलक आये थे। उन्होंने वत्तीस रानियों का परित्याग किया, राज्य-वैभव का त्याग किया और घोर उपसर्ग सहन किये। ऐसे पवित्र मेरे ही नहीं, अखिल संसार के सुजनों के प्रिय मुनि के हत्यारे नर-पिशाच की आप खबर लें।'

'आर्ये! मुनि-हत्यारा नर-पिशाच अन्य कोई नहीं वल्कि मैं ही उनका हत्यारा महापापी हूँ। मैं राज्य-धर्म, मानव-धर्म भूल गया और तेरे आँसुओं की पर्याप्त जाँच किये बिना उसे तेरा प्रेमी मान कर मैंने उसका वध कराया। रानी! मैं मुनि-घातक महा पापी हत्यारा अपने पापों से कब मुक्त होऊँगा?'

राजा-रानी दोनो अश्रु टपकाते हुए नगर के बाहर निकले और मुनि के शव के समक्ष-  
गद्गद् स्वरे रोवतों राजा मुनिवर आगल वैठो,  
मान मेली ने खपावे रे भूपति समता सायर मां पैठो।

तीव्र पश्चाताप करके ऋषि-हत्यारा राजा मुनि के शव के सामने झांझरिया मुनि के

गुण गाता हुआ केवलज्ञान को प्राप्त कर गया।

शंका पाप का मूल है, और राजा को शंका के कारण ही पाप करना पड़ा, फिर भी तीव्र पश्चात्ताप के कारण उसे केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

(सज्जायमाला में से)



मुनि हत्यारा राजा तीव्र पश्चात्ताप करता हुआ विशुद्ध भावों से कर्मों का घूरा करता है.

(१७)

नमस्कार मंत्र स्मरण अर्थात्

## अमरकुमार वृत्तान्त

(१)

समस्त प्रकार से शान्ति होने के पश्चात् महाराजा श्रेणिक ने राजगृही में एक विशाल चित्रशाला का निर्माण कार्य प्रारंभ किया और, उसमें देवों के, पशुओं के, पक्षियों के और प्राकृतिक दृश्यों के चित्र बनवाये। आगन्तुक उन्हें सच्चे दृश्य मानकर पकड़ने का प्रयत्न करते और पास जाने पर तथा वास्तविकता का बोध होने पर अपने आपको लज्जित महसूस करते। राजा ने चित्रशाला का भव्य प्रवेश-द्वार बनवाया और उस प्रवेशद्वार पर भी अनेक प्रकार के चित्रों के साथ दूर से सबको आकर्षित कर सके ऐसा चित्ताकर्षक कार्य करवाया, परन्तु दूसरे ही दिन प्रातः राजा ने सुना कि चित्रशाला का प्रवेश-द्वार धराशयी हो गया।

श्रेणिक राजा को प्रारम्भ में तो दुःख का झटका लगा परन्तु तनिक विचार करने पर उसका मन हलका हो गया और उसने सुदृढ़ नींव भर कर सुदृढ़ रीति से प्रवेश द्वार के पुनर्निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया। पहले की अपेक्षा अधिक शोभा युक्त भव्य द्वार का निर्माण होने पर राजा को शान्ति मिली, सन्तोष हुआ। इतने में दूसरे दिन प्रातः राजा को पुनः द्वार टूट जाने का समाचार मिला।

राजा श्रेणिक ने श्रेष्ठतम ज्योतिषियों को बुलवा कर बार-बार द्वार गिर पड़ने का कारण पूछा तो उन्होंने बताया, 'राजन्! यह क्रूर भूमि है जिसका अधिष्ठायक एक क्रूर व्यंत्तर है। वह माँग रहा है एक बत्तीस लक्षणों से युक्त बालक का बलिदान।'।

श्रेणिक राजा को विवेक अथवा विचार नहीं था। उसका मन तो केवल चित्रशाला को भव्यता प्रदान करने की कल्पना में ही प्रसन्न था। उसने राजगृही में ढिंढोरा पिटवाया कि, 'राजा को एक बत्तीस लक्षण युक्त बालक की आवश्यकता है, परन्तु राजा किसी पर अन्याय करके किसी का बालक छीनना नहीं चाहता। जो व्यक्ति स्वेच्छा से अपना बालक देना चाहता हो वह दे; तो राजा उसे बालक के तोल के बराबर सोनैये (स्वर्ण-मुद्रा) तोल कर देगा।'।

ढिंढोरा सर्वत्र पिटवाया, परन्तु ऐसा हत्यारा मानव कौन मिलता जो अपने हाथों अपना बालक प्रदान करता?

(२)

राजगृही में ऋषभदत्त नामक एक निर्धन ब्राह्मण था, जिसके समस्त कुलक्षणों से युक्त भद्रा नामक पत्नी थी। निर्धन के घर प्रायः सन्तान का अभाव नहीं होता, उस प्रकार भद्रा भी एक के पश्चात् एक बालक को जन्म देती और उन्हें मार-पीट कर, तिरस्कार करके बड़े करती। उसके चार पुत्र थे। छोटे पुत्र का नाम अमरकुमार था।

द्वोल पिटता सुनकर भद्रा गली से बाहर आई और उसने सुना कि बालक के तोल के बराबर राजा सोनेये (स्वर्ण-मुद्राएँ) प्रदान करेगा। वह तुरन्त गली में खेलते हुए बालक अमरकुमार को पकड़ लाई और कहने लगी, 'लो, इस मेरे अमर को और लाओ स्वर्ण-मुद्राएँ।'

जब अमरकुमार ने यह बात सुनी तो वह तुरन्त काँप उठा और माता के चरण पकड़ कर कहने लगा, 'माता! तू मेरी जननी होकर मेरा विक्रय क्यों कर रही है? मुझे मत बेच, तू कहेगी वह मैं करूँगा। माता! मुझ पर दया कर।'

'मैं बेचूँ नहीं तो क्या करूँ? सब को उदर-पूर्ति मैं कहाँ से करूँ? तेरा पिता चुटकी भर आटा भीख माँग कर लाता है उससे क्या होता है? तू किस काम का है?'

'पिताजी! आप माता को समझाओ, यह मेरा विक्रय न करे। मैंने कोई अपराध नहीं किया। मैं आप कहोगे वैसा करूँगा।' करुण एवं दीन भाव से आँसू छलकाते हुए अमरकुमार ने पिता से कहा।

पिता ने अपना सिर पकड़ लिया, परन्तु बाधिन जैसी भद्रा से कुछ कहने की शक्ति उनमें नहीं थी। उन्होंने केवल इतना ही कहा, 'अमर! प्रायः यह कहा जाता है कि पिता की अपेक्षा माता सन्तान को अधिक प्यार करती है। वही तेरा विक्रय करने के लिए तत्पर हो गई, तो मैं उसका विरोध करके भी क्या कर पाऊँगा?'

अमरकुमार चाचा-चाची, ताऊ-ताई, मामा-मामी एवं समस्त रिश्तेदारों के घर घूमा। 'मुझे बचाओ, मैं आपके घर का समस्त कार्य करूँगा, आपके बालकों की देख-भाल करूँगा और बड़ा होऊँगा' - आदि निवेदन किया, परन्तु सबने सुना-अनुसुना कर दिया तो किसी ने 'काका-मामा कहने का' कहकर उक्ति की सार्थकता स्पष्ट की।

कोतवाल, अमरकुमार एवं भद्रा शहर के राजमार्ग से होते हुए आगे बढ़े। उनके पीछे लोगों की भीड़ थी। अमरकुमार को जो कोई मिलता वह उसी से कहता, 'मुझे बचाओ, बचाओ', परन्तु किसी ने उसे सान्त्वना नहीं दी।

शहर के मध्य में दुकानों पर बैठे दयालु गिने जाने वाले सेठों को प्रणाम करके अमरकुमार ने कहा, 'गाय, पशु, पक्षी सबको बचाने वाले, जीवदया के लिए पिंजरापोल चलाने वाले हे महाजनो! मुझे बचाओ। मेरी पापिन जननी की धन की अभिलाषा को

मुझे खरीद कर आप पूर्ण करें। मैं आपका दास वनूँगा और जीवन भर आपकी सेवा करूँगा। पशु-पक्षियों के प्रति दया बताने वाले हे महाजनो! जीव-दया प्रेमियो! क्या आप मेरे पर दया नहीं करेंगे?’

महाजनों ने कहा, ‘बालक! इसमें धन का प्रश्न नहीं है। तू विक कर किसी सामान्य मनुष्य के घर नहीं जा रहा। तू राजा को बेचा गया है। निरर्थक उनका कोप-भाजन कौन बने?’

राज्यसभा में भद्रा, अमरकुमार और कोतवाल उपस्थित हुए। राजा एवं पुरोहित को बालक बता कर कोतवाल ने बालक क्रय करने की बात कही।

अमरकुमार ने निवदेन किया, ‘महाराज! आप समस्त प्रजा के पालक पिता हैं। पिता होकर बत्स की बलि मत दो। मैं निर्दोष प्रजाजन हूँ। आप मुझे बचाओ।’

‘अमरकुमार! मैं बलात्कार तो कर नहीं रहा। मैंने डिंडोरा पिटवाया था और तुम्हारी माता सहर्ष मुझे सौंपने के लिए आई है। तुम पर सच्चा अधिकार तो उसी का है।’

‘सम्पूर्ण प्रजा पर अधिकार रखने वाले राजन्! मुझ पर आपका अधिकार नहीं है, यह मत कहिये, परन्तु आपके न्याय-चक्षु चित्रशाला की महत्त्वाकांक्षा की रज से धूमिल हो गए हैं, अतः वे आपको सच्चा न्याय सुझने नहीं देंगे।’

‘राजन्! सन्तान के लिए तरसती माता बालक की स्वयं बलि देने के लिए तत्पर हो जाये, पुत्र के लिए अथक श्रम करने वाला पिता अपने नेत्रों से पुत्र का बलिदान



अमर कुमार जो कोई मिलता उसे कहता, 'मुझे बचाओ!' परन्तु किसी ने उसे सान्त्वना नहीं दी!

होता देखता रहे, दुःख के समय सहायता करने वाले तथाकथित स्वजन अपनी आँखों से अपने स्वजन को वधस्थान पर ले जाते हुए देखते रहें और प्रजापालक गिना जाने वाला राजा अपने हाथों निर्दोष सुकोमल बालक का वध होने दे, फिर 'भी वे माता-पिता, स्वजन एव प्रजा-पालक राजा कहलायें, यह जगत् का न्याय है' - पुरोहित के समक्ष मुँह करके अमरकुमार ने कहा।

'पुरोहितजी महाराज! क्या आपके शास्त्र मेरे समान निर्दोष बालक के वलिदान से ही द्वार नहीं गिरने का कह रहे हैं? पुरोहितजी! मेरे आँसू एवं निःश्वास द्वार को स्थायित्व प्रदान करेंगे अथवा रही सही चित्रशाला एवं आप सबको धराशयी कर देंगे, इसका विचार करो।'

पुरोहितजी मुस्कुराये और सेवकों को आदेश दिया, 'अब विलम्ब मत करो, मृत्यु कौन चाहता है?' आदेश पाते ही सेवकों ने अमरकुमार को स्नान कराया, पीताम्बर पहनाया, उसके गले में कनेर के पुष्पों की मालाएँ पहनाई और यज्ञ-वेदी के सामने खड़ा कर दिया। तत्पश्चात् पुरोहितजी अधमूँदे नेत्रों की मुद्रा में वेदों के मन्त्रोच्चारण करने लगे।

### (३)

घड़ी भर पूर्व माता, पिता, महाजनों एवं प्रजाजनों, राजा और पुरोहित के समक्ष अनुनय-विनय करने वाले अमरकुमार के नेत्रों में से दीनता अदृश्य हो गई, उसके होंठ भिंच गये, नेत्र मूँद गये और जब उसने मन में विचार करते हुए सम्पूर्ण जगत् पर दृष्टि डाली तो उसे माता, पिता, परिवार सब स्वार्थी प्रतीत हुए। केवल एक ही महापुरुष की आकृति उसके समक्ष खड़ी हो गई और वह थी एक मुनि की आकृति। एक बार उसका एक अणुगार साधु से मिलाप हुआ था और उन्होंने उसे कहा था कि 'अमर! समस्त कष्टों का नाश एवं निवारण करने वाला 'महामन्त्र नवकार' का स्मरण है।' मुझ पामर ने नित्य उसका स्मरण नहीं, किया ध्यान नहीं किया, आज मैं उसका ध्यान धरूँगा और उसकी शरण में जाऊँगा। अमरकुमार ने सबको अपने चित्त से हटा दिया और 'नमो अरिहंतानां, नमो सिद्धाणां....' पदों का उच्चारण करता हुआ उसके ध्यान में लीन हो गया और इधर पुरोहितजी के सेवकों ने वलिदान के लिए अमरकुमार को अग्नि की धधकती ज्वालाओं में फेंक दिया, परन्तु दूर-दूर खड़े व्यक्ति को पसीना (प्रस्वेद) एवं उष्णता प्रदान करती वे ज्वालाएँ अमरकुमार को शीतल प्रतीत हुईं और उनमें वह किसी राज्य-सिंहासन पर बैठा हो उस प्रकार दृष्टिगोचर हुआ।

सामने की ओर अमरकुमार ने दृष्टि डाली तो राजा को रक्त का वमन हो रहा था। पुरोहितजी एवं उनके सेवक उल्टे सिर सूखी लकड़ी की तरह निश्चेष्ट होकर वेसुध

पड़े थे।

सामने खड़े लोग बोले, 'उग्र पाप तो इस भव में ही चमत्कार बता देता है। बाल-हत्या कोई सामान्य पाप नहीं है।'

अमरकुमार ने कुंकुम के छींटे डाले जिससे राजा तथा पुरोहितजी दोनों खड़े हो गये। सब लोगों ने अमरकुमार का अभिवादन किया। राजा ने दीन स्वर में कहा, 'कुमार! जिस आसन पर देवों ने तुम्हें बिठाया, उस आसन पर तुम सदा बैठ कर राजगृही की राज्य-ऋद्धि का उपभोग करो, क्योंकि उसके उपभोग के वास्तविक अधिकारी तुम ही हो।

'राजन्! मैंने राज्य-ऋद्धि एवं स्वजनों का प्रेम देख लिया है। राजन्! जिनके अल्प परिचय से मुझे 'नवकार मंत्र' प्राप्त हुआ और जिससे मेरा कल्याण हुआ उन्हें मैं अपना जीवन समर्पित कर चुका हूँ। मुझे नहीं चाहिये आपकी राज्य-ऋद्धि और नहीं चाहिये मान-सम्मान।'

अमरकुमार को जातिस्मरण ज्ञान हुआ और उसने उसी स्थान पर पंच मुष्टि लोच करके संयम-वेश धारण किया।

अमर मुनिराज बध-स्थल से वन की ओर प्रस्थान कर गए और वन प्रान्तर के एक पुनीत स्थल पर कायोत्सर्ग ध्यान में लीन हो गए।



नमस्कार महामन्त्र के भावपूर्वक स्मरण करने से अग्नि की ज्वाला अमरकुमार को जला न सकी एवं राजा यमन करता हुआ व पुरोहित बेसुध हो पड़े.

(४)

राजगृही के समस्त चौराहों पर और मोहल्लों में अमर का माहात्म्य गाया जा रहा था। छोटे बड़े सभी बालक अमर का गुण-गान कर रहे थे.....। यह बात भद्रा ने सुनी। उसका पुत्र जीवित हो गया, सिंहासन पर बैठा, चमत्कार बताया और अपना कल्याण किया, उससे उसे हर्ष नहीं हुआ। वह असमंजस में पड़ गई कि अभी राजसेवक आयेंगे और अमर के तोल के बराबर ली हुई स्वर्ण-मुद्राएँ ले जायेंगे। हाय! धन जायेगा, पुत्र गया, नगर में मेरी निन्दा हुई और मैं चाण्डालिनी कहलाई। भद्रा को नींद नहीं आई। वह अकेली उठी और जहाँ अमर मुनि कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े थे वहाँ गई। उसने अच्छी तरह अमर को देखा, निहारा। उसने न तो उसका आलिंगन किया, न अनुनय विनय की, परन्तु उसने बड़े-बड़े पत्थर लिये और एक एक करके अमर के सिर पर दे मारे जिससे उसकी मृत्यु हो गई। मुनि ने मानव-देह का परित्याग कर दिया और वारहवे स्वर्ग का स्वांग स्वीकार किया।

रक्त-प्यासी शेरनी जिस प्रकार शिकार करके सन्तोष प्राप्त करती है, उसी प्रकार अपने पुत्र अमर का संहार करके भद्रा ने सन्तोष की अनुभूति की। उसने सोच लिया कि, 'अब राजसेवक अमर को मुझे सौंपे बिना कैसे धन माँगेंगे?'

'धन, धन करती हुई लौट कर आती विकराल भद्रा नगर की ओर उन्मुख हुई कि



बायिन ने मानव-बायिन भद्रा को वहीं पर चीर डाला! मरकर भद्रा छड़ी नरक में उत्पन्न हुई.

उसे एक वाधिन मिली। वाधिन ने मानव-वाधिन भद्रा को वहीं पर चीर डाली और उसे छट्टी नरक में भेज दिया।

निर्धनता एवं धन की लालसा मनुष्य को पशु से भी बदतर स्थिति में पहुँचा देती है; इस विचार को साकार कर, माता पुत्र का विक्रय करे और उसका वध करे ऐसे मलिन वृत्तान्त को अपने साथ रख कर अनेक रौरव भवों में भद्रा परिभ्रमण करती रही।

माता, पिता, स्वजन कोई किसी के नहीं हैं परन्तु अन्त में अमर धाम को पहुँचाने वाले पंच परमेष्ठी का स्मरण ही कल्याणकारी है - ऐसे आदर्श को जगत् के समक्ष रख कर अमरकुमार 'नवकारमंत्र' के स्मरण से अमर देव बने और आज भी -

जो जो मंत्र नवकारथी अमर कुमार शुभ ध्यान रे,

सुरपदवी लही मोटकी, धरम तणे परसादे रे।

आदि स्वाध्याय से उनके गुणों का स्मरण करते हैं।

(सज्जायमाला में से)

# कीर्त्तिधर एवं सुकोशल मुनि

(१)

‘धर्म करो भाई, धर्म करो भाई’ का स्वर साकेतपुर के राजा कीर्त्तिधर के कानों में पड़ा। उन्होंने राजपथ पर देखा तो भंगी जोर-जोर से यह चिल्ला रहे थे और लोगों के दल के दल नदी की ओर स्नान करने के लिए प्रयाण कर रहे थे। राजा पल भर के लिए विचार में पड़ गया। नगर में ऐसे कौन से व्यक्ति का देहान्त हो गया है कि छोटे-बड़े सभी स्नान करने के लिए जा रहे हैं? उसने लोगों की कैसी चाह प्राप्त की है? और ऐसी चाह भी परोपकार के बिना थोड़े ही प्राप्त होती है? क्या उसकी गुण-गरिमा? यह विचार-माला पूर्ण करे इतने में ही पुनः ‘धर्म करो भाई, धर्म करो’ के तीव्र घोष ने उसका विचार-क्रम भंग कर दिया। उन्होंने सेवक को पूछा, ‘मालूम करो कि किस का देहान्त हुआ है जिससे लोग घबराये हुए नदी पर जा रहे हैं?’

‘महाराज! चराचर विश्वभर के उपकारी तेजस्वी सूर्य नारायण राहु द्वारा ग्रसित हुए हैं। अतः भंगी ‘धर्म करो’ ऐसी आवाज लगा रहे हैं उनके इस उच्चकथन का भाव है ऐसे सूर्यनारायण जैसे देव को भी राहु के द्वारा ग्रसित होना पड़ता है। अतः कोई अहंकार मत करना। आज का सुख कल कव मिट्टी में मिल जायेगा उसका मनुष्य को थोड़े ही ध्यान है? यदि सच्चे सुख की कामना हो तो समस्त झंझटों को छोड़ कर ‘धर्म करो, धर्म करो’ इस प्रकार यह घोषणा हमें सावधान करती है।

विश्वभर का उपकारी सूर्यदेव! यदि उदय नहीं हो तो वनस्पति कैसे विकसित होगी? वादल कहाँ से बनेंगे? विश्व जीवित कैसे रहेगा? ऐसे तारणहार का भी राहु से ग्रस्त होना? श्याम-मुखी बनना? और उसे देख कर लोगों का स्नान करना दान-धर्म करना?

अहो! तो मैं कौन हूँ? मेरा वैभव कितना? मेरा आयुष्य कितना? किस बात का है यह आडम्बर? और किसलिये मैं लाल-पीला हो रहा हूँ?

‘देवि! मानव-भव का आयुष्य कितना? सम्पत्ति, एवं राज्य की प्राप्ति में और उनकी सुरक्षा में उपाधि कितनी? और उनसे लाभ भी क्या? क्या यह आसक्ति और क्या उस पर विश्वास?’ रानी की ओर उन्मुख होकर राजा ने राज्य-सम्पत्ति के प्रति अन्यमनस्कता प्रदर्शित करते हुए कहा, ‘मंत्रियो! क्या आप मेरे परामर्शदाता हो? सच्चे परामर्शदाता नहीं हो। मैं भोग-सुख में प्रफुल्लित होता हूँ, परन्तु कल मिट्टी में मिल जाऊँगा, क्या

आपने मुझे ऐसा परामर्श दिया है? मैं राज-राजेश्वर हूँ। सब से महान् हूँ। मुझ से उच्च पद पर कोई नहीं है, ऐसा दवदवा मेरे समक्ष रखकर आपने मुझे पामर होते हुए भी महान् बना कर क्या मेरे साथ ठगी नहीं की? अथवा आप क्या करो? आप कहाँ त्यागी, निस्वार्थी अथवा विश्व पर उपकार करने का वेप धारण करने वाले हैं?

‘मेरा परिवार जिसमें, राज्य को तिनके के समान समझ कर पिता ने दीक्षा अंगीकार की, दादा ने दीक्षा अंगीकार की, चाचा ने दीक्षा अंगीकार की और मैं ही एक पामर जो राज्य-ऋद्धि के मद में मूर्छित बना रहा।

इस प्रकार राजा कीर्तिधर के मानस पटल पर ऐसी ऐसी अनेक अपने पूर्वजों की स्मृतियाँ उभर आई।

## (२)

साकेतपुर नगर में विजय राजा मेरे दादा और उनकी रानी हिमचूला मेरी दादी थी। उनके दो पुत्र थे - एक वज्रबाहु जो मेरे ताऊ और दूसरे जो मेरे पिता पुरन्दर थे।

वज्रबाहु का विवाह नागपुर के राजा दधिवाहन एवं रानी पुष्पचूला की देवाङ्गना तुल्य पुत्री सचमुच मनोरमा के समान मनोरमा के साथ हुआ था। कुछ दिनों के आतिथ्य के पश्चात् वज्रबाहु मनोरमा के साथ अपने नगर की ओर लौटने लगे। दधिवाहन ने उत्तम दहेज एवं श्रेष्ठ सेवक-परिवार प्रदान करके अपने पुत्र उदयसुन्दर को उन्हें पहुँचाने के लिए भेजा। जब हर्ष पूर्वक वज्रबाहु अपने नगर में लौट रहे थे तब वसन्त ऋतु आ गई थी। जंगल में सर्वत्र हरियाली छापी हुई थी और पुष्प मानो चाँदी के दाँतों से हँसते हुए वज्रबाहु, मनोरमा एवं उदयसुन्दर का आतिथ्य कर रहे हो। उस समय वज्रबाहु ने सुन्दर हरे-भरे मैदान में पड़ाव डाला। एक वार वसन्तोत्सव मना कर लौटते समय वज्रबाहु की दृष्टि एक वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग ध्यानस्थ खड़े मुनि पर पड़ी। घड़ी भर में राग-रंग में प्रमुदित कुमार तुरन्त विचार-मग्न हो गया। वह मुनि के समीप गया और उनको वन्दन करके उन्हें टक टकी लगाकर देखता रहा। उदयसुन्दर एवं मनोरमा भी साथ थे। उन्होंने मुनि को वन्दन किया और पड़ाव पर जाने के लिए तत्पर हुए। उदयसुन्दर ने वज्रबाहु को कहा, ‘चलो आश्रम में, घूर घूर कर मुनि के सामने क्या देख रहे हो? क्या तुम्हें ऐसे मुनि बनना है? बनना हो तो मुझे कहना। मैं भी तुम्हारा साथी बनूँगा। इसी समय विना विलम्ब के आज्ञा प्रदान कर दूँगा।

‘अरे भले आदमी! संसार में ऐसे महापुरुषों के दर्शन की अपेक्षा अन्य क्या अधिक सुन्दर है? मुनीश्वर बनना कोई छोटे बच्चों का खेल है? उसके पीछे तो पुरुषार्थ एवं परमभाग्य चाहिये।’ इस प्रकार वज्रबाहु ने कहा।

इतने में मुनि का कायोत्सर्ग पूर्ण हुआ और वे बोले, ‘मानव-भव अत्यन्त दुर्लभ है।

मानव-भव में ही जीव उत्कृष्ट आराधना कर सकता है। जगत् के नश्वर आनन्द की अपेक्षा इस भव में ऐसा कार्य करो कि जिससे शाश्वत आनन्द मोक्ष की प्राप्ति हो।'

वज्रवाहु ने उदयसुन्दर की ओर उन्मुख होकर कहा, 'मैं मुनीश्वर बनता हूँ। तुम मेरे साथी बनोगे न?'

'क्या कह रहे हो? मैं तो उपहास कर रहा था' - यह कहते हुए उदयसुन्दर को बड़ा भारी आघात लगा।

'हास्य से रोदन की हुई औषधि व्याधि दूर कर सकती है। भले ही तुमने हास्य में कहा हो, अब उसे सत्य कर बताओ।'

'महाराज! मुझे आपके दर्शन एव उपदेश से वैराग्य हो गया है। आप मुझे दीक्षित करें।' मुनि को नमस्कार कर वज्रवाहु ने स्वयं को दीक्षित करने के लिए निवेदन किया।

मनोरमा, उदयसुन्दर और उनके साथ आये सब पुरूषों ने वज्रवाहु के साथ दीक्षा अङ्गीकार की। वसन्तकेलि का उत्सव धर्मकेलि में परिणत हो गया। और उदयसुन्दर का हास्य-वचन सचमुच सबका उद्धारक बना।

ये समाचार दादा विजय राजा ने सुने। वे वज्रवाहु की दीक्षा से चिन्तित नहीं हुए बल्कि उन्होंने उन्हें धन्यवाद दिया और कहा, 'पुत्र भाग्यशाली है जिसने युवावस्था में संयम ग्रहण किया और मैं तो अभी तक संसार में ही उलझा हुआ हूँ।'

उन्होंने तुरन्त पिताश्री पुरन्दर को राज्य सौंपा और दीक्षा ग्रहण की। पिता पुरन्दर भी अल्प गमय में ही मुझे राज्य सौंप कर दीक्षा के पावन-मथ पर अग्रसर हुए।

### (३)

स्वप्न में रो जाग्रत होकर चौककर बोलते हैं उस प्रकार मंत्रियों को सम्बोधित करके कीर्तिधर ने कहा, 'मंत्रीगण! मुझे संसार विषम प्रतीत होता है, राज्य-ऋद्धि एवं भोग भयावह प्रतीत होते हैं। किसी योग्य व्यक्ति को राज्य-सिंहासन पर विठाकर मुझे इस बोझ से मुक्त करो।'

'राजन्! राज्य का अधिकारी कोई बाजार में थोड़े ही मिलता है? परम्परागत संस्कार युक्त राज्य-कुल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति ही सच्चा अधिकारी हो सकता है और आप अकेले अपने स्वार्थ के लिए लाखों प्रजाजनों के हित का विचार न करें तो क्या यह उचित है?'

राजा कीर्तिधर उलझन में पड़ गये और राज्य के उत्तराधिकारी की चिन्ता ने उन्हें घेर लिया। कुछ ही दिनों में उनकी रानी सहदेवी के पुत्र हुआ। रानी एवं अमात्यगण अच्छी तरह जानते थे कि पुत्र होने का समाचार राजा सुनेंगे तो तुरन्त वे संयम के

पथ पर प्रयाण कर जायेंगे। इस कारण पुत्र-जन्म की वात गुप्त रखी, परन्तु यह वात गुप्त कैसे रह सकती थी? पन्द्रह दिनों में वात सर्वत्र फैल गई और राजा को ज्ञात हो गया कि मेरा भार उतारने वाला पुत्र उत्पन्न हो गया है।

राजा ने पन्द्रह दिनों के पुत्र को राज्य-सभा में उपस्थित किया। उसका नाम सुकोशल रखा गया और राजा ने मंत्रियों तथा प्रजाजनों के समक्ष कहा कि, 'आपको राज्य के लिए अधिकारी की अभिलाषा थी वह पूर्ण हो गयी है। अब मैं संयम अङ्गीकार कर रहा हूँ।' सबने हिचकिचाते हुए दुःखी मन से अनुमति प्रदान की और राजा कीर्तिधर-मुनि कीर्तिधर बन गये।

### (४)

प्रजाजन एवं मंत्रीगण बालराजा सुकोशल का कीर्तिधर राजा की तरह ही सम्मान करते और उसका रत्न की तरह पोषण करते थे। राजमाता सहदेवी पुत्र की वृद्धि एवं प्रजाजनों का स्नेह देखकर हर्षित होती, फिर भी उसके हृदय में एक वात की टीस तो बनी ही रहती कि पति का कुल युवावस्था में राज्य छोड़कर संयम पथ पर अग्रसर होने वाला है और यह मेरा पुत्र वास्तविक राजा बन कर दिग्विजयी बनें उससे पूर्व कहीं संयम पथ पर न बढ़ जाये। अतः उसने नगर में आने वाले त्यागियों को रुकवा दिया और जो नगर में थे उन्हें दूर भेज दिया, क्योंकि कहीं किली त्यागी को देखकर पुत्र के मन में भी त्याग के संस्कार जाग्रत न हो जायें। सदा दर्शन एवं श्रद्धा से ही जिज्ञासा प्रकट होती है।

सुकोशल कुमार युवा हुआ। माता सहदेवी ने सुन्दर राजकुमारियों के साथ उसका विवाह किया और पुत्र के सुख से सुखी होकर सहदेवी भी सुखपूर्वक अपना समय व्यतीत करने लगी।

कीर्तिधर मुनि गाँव-गाँव विहार करते हुए साकेतपुर आये। वृद्ध द्वारपाल ने राजर्षि को पहचान लिया अतः उन्हें नगर में प्रविष्ट होने से उन्हें नहीं रोका। मुनि नित्य गोचरी के समय नगर में आते और भिक्षा लेकर पुनः नगर के बाहर चले जाते।

एक वार सहदेवी और सुकोशल की धाय-माता दोनों महल के झरोखे में बैठी थीं। सहदेवी ने मध्याह्न की गोचरी के लिए निकले कीर्तिधर को दूर से देखा। उन्हें देखते ही उसका मस्तक झुका परन्तु साथ ही साथ मोह ने उछाला मारा और वह सोचने लगी कि यदि सुकोशल इन महर्षि से मिलेगा तो राज्य छोड़ कर संयम ग्रहण कर लेगा और पतिविहीन बनी मैं पुत्रविहीन भी हो जाऊँगी और राज्य-राजाविहीन हो जायेगा।

उसने तुरन्त सेवकों को बुला कर उन मुनि को धक्के मार कर नगर से बाहर निकलवा दिया। समता-सागर कीर्तिधर मुनि ने हृदय को समझाया कि, 'जीव! क्रोध मत करना।

इस राज्य और राजा के साथ तेरा क्या लेने-देने है?’

इधर सुकोशल ने धाय-माता को विलख-विलख कर रोते देखा तो उसने उससे रोने का कारण पूछा, ‘माता! क्यों रोती हो?’

‘क्या बताऊँ पुत्र? तेरे पिता कीर्तिधर राजा मासक्षमण के पारणे के दिन नगरी में प्रविष्ट हुए तो तेरी माता ने धक्के मार कर सेवकों द्वारा उन्हें नगर से बाहर निकलवा दिया। संयमी आत्मा के प्रति भ्रमत्व-भाव तो गया परन्तु हमारी मानवता भी समाप्त हो गई।

राजर्षि के दर्शनार्थ राजा-प्रजा उमड़नी चाहिये, उसके वजाय क्या उन्हें हम धक्के मार कर बाहर निकालें?’

‘माता! ऐसा कैसे हुआ होगा?’

‘पुत्र! सहदेवी ने अपनी इस शंका के वशीभूत होकर ऐसा किया कि कहीं तू उनके सम्पर्क में आकर त्यागी न बन जाये। मोह मनुष्य में विवेक नहीं आने देता।’

(५)

लघुकर्मी सुकोशल ने राजर्षि की वन्दना के लिए नगर से बाहर जाने की सूचना देने के लिए डुग्गी पिटवाई। वह तथा सम्पूर्ण नगर राजर्षि को वन्दन करने के लिए चल पडा। लज्जित बनी राजमाता सहदेवी भी वन्दन हेतु चली। मुनिवर ने वैराग्यमय देशना दी।



कीर्तिधर मुनि ने मन को समझाया, ‘जीव! कोय मत करना!

इस राज्य अथवा राजा के साथ तेरे क्या लेने-देने है?’

देशना के पश्चात् सुकोशल ने कहा, 'हे भगवन्! आपके दर्शन से मेरा जन्म सफल हुआ है। आप मेरे पिता हैं, मैं आपका पुत्र हूँ। आपको संयम में अपना हित प्रतीत हुआ तो क्या मेरा हित संयम में नहीं है? हे पिता! मुझे संयम रूपी अमृत का पान कराये।'

सुकोशल पुनः माता की ओर मुड़ा और बोला, 'माता! मैं तेरा प्रिय पुत्र हूँ। तू मुझे संयम ग्रहण करने की अनुमति प्रदान कर। पुत्र का हित और सुख माता चाहती है। अन्त में माता का और सबका हित संयम में है।'

पत्नी को सम्बोधित करके सुकोशल ने कहा, 'हे प्रिये! तू मेरे लिए विघ्न रूप मत बनना। राज्य को सम्हालने वाला तेरे पुत्र होगा, क्योंकि इस समय तू गर्भवती है।'

सुकोशल ने मोह-निद्रा त्यागकर-मोह-बंधन तोड़कर अनुमति प्राप्त की और संयम अङ्गीकार किया। तत्पश्चात् पिता और पुत्र दोनों ने वहाँ से विहार किया।

सुकोशल ने कनकावली आदि अनेक तप करके देह मुखा दी और पिता-पुत्र दोनों मौदगिल्य पर्वत के समीप कायोत्सर्ग में रहे।

सहदेवी पुत्र-विहीन बनी, लोगों द्वारा निन्दित बनी और थोड़ा समय व्यतीत करके अन्त में मर कर वाघिन बनी।

### (६)

एक वार यह वाघिन घूमती-फिरती मौदगिल्य पर्वत की खाई में से भूखी-प्यासी निकली तो सामने ही उसने इन दोनों मुनियों को देखा। देरते ही उसका शरीर क्रोध से जलने लगा।

कीर्त्तिधर एवं सुकोशल मुनि ने वाघिन को देखा तो सुकोशल तुरन्त उसके मार्ग में आकर खड़ा हो गया। कीर्त्तिधर ने वालमुनि सुकोशल को समझाया कि परिपह के लिए तत्पर होना सरल है परन्तु सहन करना कठिन है। वे समझा ही रहे थे कि वाघिन ने सुकोशल को पंजा मारा और उसकी देह क्षत-विक्षत कर डाली।

सुकोशल! कर्म क्षय करने का वास्तविक समय यही है। धैर्य रखना, क्रोध पर नियन्त्रण रखना, पूर्ण सौभाग्य से त्यागी मुनियों पर कठोर उपसर्ग होते हैं और उसमें वे अपना कल्याण करते हैं।

सुकोशल ने सोचा, नरक एवं निगोद में इसकी अपेक्षा अत्यन्त कठोर कष्ट मैंने अनेक वार सहन किये हैं, परन्तु वे मैंने संयम-भावना से नहीं सहे थे, जिसके कारण कल्याण नहीं हुआ। उसने न तो वाघिन पर क्रोध किया और न अविचारों पर क्रोध किया। इस ओर उसका देह-पिंजर क्षत-विक्षत हो गया और दूसरी ओर उसके कर्मों का क्षय हो गया। वह केवलज्ञान प्राप्त करके तत्काल मोक्ष में गया।

अत्यन्त क्रूरता पूर्वक वाघिन ने मुनि की देह के अवयवों का विच्छेद किया। उस समय उस वाघिनी की दृष्टि दंत-पंक्ति पर पड़ी। दंत-पंक्ति देखते ही वाघिन को जातिस्मरण ज्ञान हुआ, पुत्र का स्मरण हुआ, उसे पश्चात्ताप हुआ और वह भी देशविरति धर्म स्वीकार करके हिंसा त्याग कर देवलोक में गई।

कीर्तिधर मुनि ने भी शुद्ध संयम का पालन करके केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्तिपद प्राप्त किया।

इस प्रकार पिता-पुत्र का गौड़ी जगत् में विख्यात हो गई और सदा के लिए वन्दनीय बनी।

(ऋषिमंडलवृत्ति से)



दोनों मुनियों को देखते ही वाघिन की देह में क्रोध व्याप्त हो गया  
एवं कीर्तिधर मुनि ने सुकोशल मुनि को परिग्रह सहन करने के लिए समझाया।

(१९)

दृढ़ संकल्प अर्थात्

## महात्मा दृढ़प्रहारी

(१)

दृढ़प्रहारी का वास्तविक नाम तो अन्य था परन्तु वह क्रूर था और जिस पर उसका प्रहार होता वह खड़ा नहीं हो सकता था। अतः लोक उसे दृढ़प्रहारी कहते थे।

दृढ़प्रहारी जाति से ब्राह्मण था। उसके पिता का नाम समुद्रदत्त था और माता का नाम समुद्रदत्ता। वह सात वर्ष की आयु से ही कुसंगति में पड़ गया। ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता गया, त्यों-त्यों उसके उल्लाहने आने लगे। किसी को मारता-पीटता तो किसी की चोरी कर आता। सोलह वर्ष की आयु में तो उसकी शिकायत राजा के पास पहुँची। राजा ने कुछ समय तक उसे दण्ड दिया, परन्तु वार-वार की शिकायतों से तंग आकर राजा ने उसे मार-पीट कर गाँव से बाहर निकाल दिया।

दृढ़प्रहारी भटकता-भटकता जंगल में गया और वहाँ वह चोरों की पल्ली में जाकर रहा। लड़का सुन्दर है, युवा है तथा अपने धन्धे में कुशल है यह देख कर चोरों के नायक ने उसे पुत्र तुल्य रखा।

कुछ समय में तो दृढ़प्रहारी की धाक जम गई। गाँव तो क्या, बड़े-बड़े शहर भी उससे काँपने लगे। दृढ़प्रहारी का नाम सुनते ही लोक धन-सम्पत्ति छोड़ कर भाग जाते। यदि कोई भूल कर उसका सामना करता तो दृढ़प्रहारी एक प्रहार में उसका काम तमाम कर देता। उसने अनेक लूट कीं और अनेक व्यक्तियों के प्राण लिये।

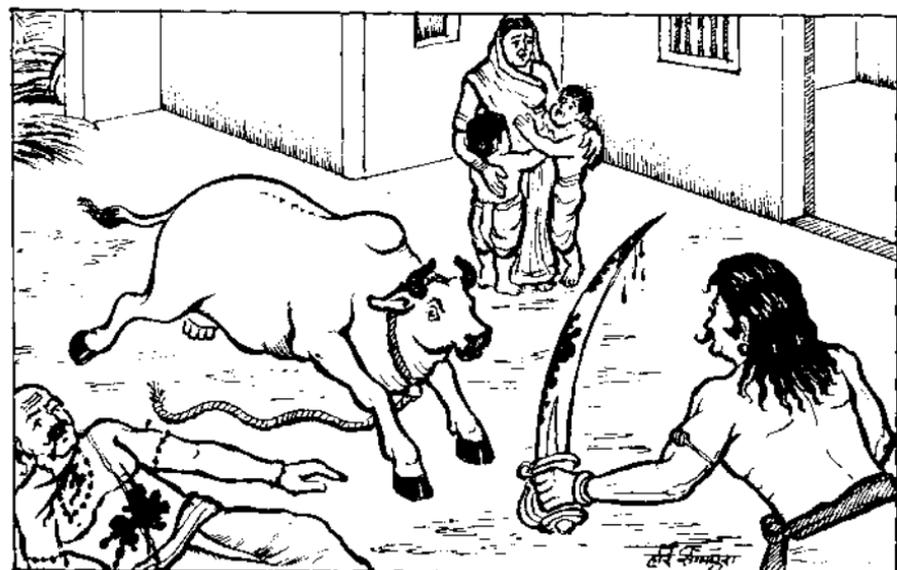
(२)

एक वार दृढ़प्रहारी ने अपने साथियों के साथ कुशरथल पर आक्रमण किया। उस गाँव में एक देवशर्मा ब्राह्मण रहता था। वह अत्यन्त निर्धन होने के साथ आंधक सन्तान वाला भी होने से सदैव दुःखी रहता। कई दिनों से उसके बच्चे उससे कह रहे थे कि 'पिताजी! अपने यहाँ खीर बनवाओ न?' देवशर्मा ने किसी के घर से दूध, किसी के घर से शक्कर तो किसी के घर से चावल माँगकर ब्राह्मणी से खीर बनवाई और वह नदी पर स्नान करने चला गया। कुछ समय पश्चात् अपने दो बच्चों को नंगे वदन हाँपते हुए रोते-रोते भागते हुए आते देखा। ब्राह्मण ने नदी में से स्नान करते-करते बाहर निकल कर उन्हें पूछा, 'क्यों रो रहे हो?'

बच्चों ने कहा, 'गाँव में डाकू आये हैं। उन्हें किसी का घर नहीं मिला, अतः वे अपने

घर आकर कौए की तरह खीर खा रहे हैं। पिताजी! हमें खीर दिलवाओ, क्योंकि वे हमारे लिये तनिक भी खीर नहीं रहने देंगे।'

ब्राह्मण गाँव की ओर भागा और एक मोटी दरवाजे की साख लेकर उसने खीर खाते हुए लुटेरों के सिर पर प्रहार करने प्रारम्भ किये। एक धराशायी हुआ, दूसरे की टाँग टूट गई तो तीसरा रक्त-रंजित हो गया, लहू-लुहान हो गया। यह बात उसी गाँव में अन्य स्थान पर लूट करते दृढ़प्रहारी को ज्ञात हुई। वह उस ब्राह्मण के घर आया और एक ही प्रहार में साख लेकर अपना सामना करने वाले ब्राह्मण के दो टुकड़े कर दिये। उस ब्राह्मण के घर अनेक वर्षों से एक गाय थी। वह अपने स्वामी को कटता हुआ देख नहीं सकी। अतः बल लगा कर उसने खूँटा उखाड़ दिया और वह दृढ़प्रहारी के सामने सींग भिड़ाती हुई दौड़ी। दृढ़प्रहारी ने तुरन्त तलवार से उस पर आक्रमण किया और देवशर्मा की तरह उसके भी दो टुकड़े कर दिये। ब्राह्मणी ने देखा कि इतनी सन्तान हैं, कमाने वाला कोई नहीं है, मैं जीकर क्या करूँगी? वह रोती-चीखती दृढ़प्रहारी के पास आकर बोली, 'चाण्डाल! मार-मार, तू सबको मार डाल।' दृढ़प्रहारी क्रोध से तमतमा रहा था। उसने तुरन्त अपनी तलवार उसके पेट में भोंक दी। ब्राह्मणी गिर गई और साथ ही उसके पेट का गर्भ भी नीचे गिर कर तड़पने लगा। ब्राह्मण के वच्चे 'ओ माता! ओ पिताजी! वचाओ, वचाओ' करते हुए चिल्लाने लगे, परन्तु मरने के लिए कौन आगे आता?



स्वामी की हत्या को न देख सकी अतः गायने बल लगाकर खूँटा उखाड़ दिया  
एवं दृढ़ प्रहारी के सामने सींग भिडानी हुई दौड़ी.

ब्राह्मण एवं गाय मारने में दृढ़प्रहारी का जो हाथ नहीं काँपा था, वह उस ब्राह्मणी के गर्भ के तड़पने से तथा बच्चों के करुण क्रन्दन से काँप उठा। बच्चों को चीखते-चिल्लाते देख कर स्वयं के प्रति घृणा हो गई। उसने तलवार दूर फेंक दी और रोते-विलखते बच्चों के आँसू पोंछने के लिए हाथ बढ़ाये। घड़ी भर पूर्व जो बच्चे ब्राह्मणी को निराधार प्रतीत हुए थे वे अब उस दृढ़प्रहारी को भी निराधार प्रतीत हुए और वह बोला, 'ये विचारे निराधार बच्चे क्या करेंगे? मैं महा पापी, ब्राह्मण-स्त्री-गाय-बालक का हत्यारा हूँ। मेरे पाप अधिक हैं मैंने सभी प्रकार के पाप किए हैं। मैं कहाँ पाप-मुक्त होऊँगा? मेरा क्या होगा?'

दृढ़प्रहारी कुशस्थल से बाहर निकला। उसके साथी कहाँ गये और वह कहाँ जा रहा था, उसकी उसे सुध नहीं थी। उसके नेत्रों के समक्ष तड़पता हुआ गर्भ और बालकों का करुण क्रन्दन घूम रहा था और उसके मन में यह पश्चात्ताप हो रहा था कि 'मुझसे अधिक कोई महापापी मनुष्य जगत् में होगा क्या?' तनिक दूर जाकर वह वरगद के वृक्ष के नीचे बैठ गया। पराक्रम एवं खुमारी के बल पर झूमता दृढ़प्रहारी आज सर्वथा लोथ तुल्य हो गया था। उसे अपने बल एवं पराक्रम निरर्थक प्रतीत हुए, उसे चोरी के प्रति तिरस्कार हो गया और जीवन के प्रति उसमें उदासीनता आ गई। उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि अब मैं किसके पास जाऊँ जहाँ मुझे शान्ति प्राप्त हो और कौन मेरा उद्धार करे? उस समय आकाश-मार्ग से विचरते दो चारण मुनियों को उसने देखा। दृढ़प्रहारी खड़ा हो गया। उसने उन्हें हाथ जोड़े। मुनि नीचे उतरे। दृढ़प्रहारी ने आदि से अन्त तक अपने पाप शुद्ध भाव से व्यक्त किये और कहा, 'महाराज! मेरे जैसे पापी का क्या उद्धार होगा?'

साधु ने कहा, 'उद्धार एवं पतन अपने हाथ की बात है। अवश्य ही कठोरतम पाप भी कठोर पश्चात्ताप एवं संयम से नष्ट हो सकते हैं।'

दृढ़प्रहारी ने कहा, 'भगवन्! तो मैं अपने पापों के पश्चात्ताप के लिए कठोर से कठोरतम उपाय भी करने के लिये तत्पर हूँ।'

दृढ़प्रहारी ने संयम अङ्गीकार किया और साथ ही निश्चय किया कि, 'ब्राह्मण, स्त्री, बालक और गाय की मैंने हत्या की है। जब तक वे हत्याएँ मेरे स्मृतिपट से न मिटें तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा और सब कुछ सहन करूँगा।'

### (३)

चारण मुनि तो चले गये और दृढ़प्रहारी उसी कुशस्थल के वृक्ष के नीचे संयम अङ्गीकार करके कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े रहे।

प्रातःकाल हुआ, लोगों के समूह एक के पश्चात् एक गाँव के गोचर में आये। कल

तक जिसका नाम सुनकर जो काँप उठते थे, वे लोग 'मारो इस पापी-चोर ढोंगी को' कह कर कोई उस पर पत्थर फेंकता, तो कोई 'इसने मेरे भाई की हत्या की थी' उस प्रकार सुना कर लकड़ी से दो-चार प्रहार करके उसे लहू-लुहान करता है; परन्तु दृढ़प्रहारी तो वृक्ष के तने की तरह स्थिर रहा। एक दिन, दो दिन, इस प्रकार नित्य उसका तिरस्कार होता रहा। डेढ़ मास व्यतीत होने पर दृढ़प्रहारी वहाँ से निकल कर नगर कोट के दूसरे द्वार पर कायोत्सर्ग ध्यान में खड़ा रहा। यहाँ भी वही प्रहार, गालियाँ एवं फटकार सहन करके डेढ़ महिना व्यतीत किया। इस प्रकार चारों दरवाजों पर लोगों ने उसे जितनी गालियाँ देनी थीं, जितनी फटकार सुनानी थी और पिटाई करनी थी वह सब की। दृढ़प्रहारी ने भी अपना मन दृढ़ किया और सोचा कि, 'मैंने भी कहाँ पाप कम किये हैं, अनेक व्यक्तियों का धन छीना है, अनेक व्यक्तियों के पिताओं, पुत्रों एवं भाइयों की हत्या की है, अनेक निर्दोष मनुष्यों के प्राण लिये हैं। ये तो विचारे मुझ पर प्रहार ही करते हैं परन्तु मुझे जितना दण्ड दें उतना मेरे पापों की तुलना में अल्प है।'

दृढ़प्रहारी की देह चलनी के समान और सूखी लकड़ी के समान हो गयी। जब वह चलता तब उसकी हड्डियाँ ध्वनि करती थीं। उसकी समस्त नसें बाहर उठी हुई थीं। एक समय का विशाल देह-धारी दृढ़प्रहारी अब हाड़-पिंजर तुल्य बन गया था।

अब उसे कोई चोर, लुटेरा, हत्यारा और पापी नहीं कहता था, क्योंकि उसे ऐसा कहकर और दण्ड देकर सब थक गये थे।



दृढ़ प्रहारी ने नगर के चारों ही द्वार पर डेढ़-डेढ़ महिने काउसर्ग ध्यान में रह कर लोगों की फिटकार, प्रहार, गालियाँ सहन की! एवं महात्मा दृढ़ प्रहारी बने!

उसी कुशस्थल नगर के बाहर आज नगर-निवासियों के दल के दल नगर को लूटने वाले और लोगों की हत्या करने वाले उस दृढ़प्रहारी को वन्दन कर रहे थे, उसके समक्ष नत-मस्तक हो रहे थे और कह रहे थे कि, 'धन्य है इनके त्याग एवं संयम को, जिन्होंने इतने तिरस्कार, इतने प्रहार और इतनी गालियाँ सहीं फिर भी जिन्होंने आँख तक नहीं खोली और न जिनमें तनिक भी क्रोध दृष्टिगोचर हुआ।'

'धम्मे शूरा ते कम्मे शूरा' की उक्ति ऐसे पुरुषों पर ही चरितार्थ होती है।

दृढ़प्रहारी चार हत्याओं को भूल गया। नगर-निवासी उसके पूर्व कृत पापों को भूल गये। वह आत्म-रमण में अग्रसर हुआ। उसके कोई मित्र अथवा शत्रु नहीं रहे। उसने क्लिष्ट कर्मों का क्षय किया और एक वार रौरव नरक का अधिकारी दृढ़प्रहारी पूर्ण योग बल से केवलज्ञानी बना।

केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् दृढ़प्रहारी केवली बन कर बहुत समय तक विचरण करके जगत् के जीवों को कर्म-शत्रुओं पर दृढ़ प्रहार करने का उपदेश देकर उन्हें उनसे विमुक्त किया।

दृढ़ संकल्प-बल से संयम की आराधना करके बाल, स्त्री, ब्राह्मण और गाय के हत्यारे मुनि भी उसी भव में अपना कल्याण कर सकते हैं। उसके आदर्श स्वरूप उज्ज्वल नाम करने वाले दृढ़प्रहारी महात्मा का स्मरण आज भी जगत् का उद्धार करता है। कहा है कि -

बालस्त्रीभ्रूणगोघात पातकात्ररकातिथेः

दृढ़प्रहारिप्रभृतेर्योगो, हस्तावलंबनम् ॥१२॥

ब्राह्मण, स्त्री, बालक और गाय का वध करने के पाप से नरक के अतिथि दृढ़प्रहारी का उद्धार हुआ, उसमें योग दृढ़ संकल्प-बल ही कारण है।

माहणमहिलं सपइ, सगल्भमवि च्छिन्नपत्तवेरगो।

घोरागारं च तवं काउं सिद्धो दृढ़प्रहारी ॥७५॥

गर्भ एवं पति सहित ब्राह्मणी एवं गाय का वध करके विरक्त बना दृढ़प्रहारी अत्यन्त दुष्कर तप करके सिद्धि पद को प्राप्त हुआ।

(योगशास्त्र से)

### देह

किराये के मकान को स्वच्छ रखा जाता है परन्तु उसमें व्यर्थ का धन व्यय नहीं किया जाता, क्योंकि उसे एक दिन छोड़ देना है। इसी प्रकार से देह की देख-भाल की जानी चाहिए परन्तु उसके साज-शृंगार में समय बरबाद नहीं करना चाहिए।

(२०)

सती की सहनशीलता अर्थात्

## सती अञ्जना सुन्दरी

(१)

महेन्द्रपुर के राजा महेन्द्र के अञ्जना सुन्दरी नामक एक रूपवती राजकुमारी थी। उसके साथ विवाह के लिये दो नामों का प्रस्ताव था। एक राजा प्रह्लाद के पुत्र 'पवनंजय' का तथा दूसरा हिरण्याभ के पुत्र 'विद्युत्प्रभ' का। परन्तु ज्योतिषियों ने बताया था कि विद्युत्प्रभ का आयुष्य अति अल्प है अतः उससे 'अञ्जना' का विवाह करना उचित नहीं है। इस कारण से राजा महेन्द्र ने अञ्जना का विवाह पवनंजय के साथ करने का निश्चय किया।

विवाह की तिथि निश्चित की गई, परन्तु इधर पवनंजय की विवाह से पूर्व अञ्जना सुन्दरी सं मिलने की तीव्र इच्छा थी। यह बात उसने अपने मित्र प्रहसित को कही। प्रहसित की योजनानुसार पवनंजय एवं प्रहसित दोनों रात्रि के समय वेष, बदल कर जिस उद्यान में अञ्जना सखियों के साथ विहार कर रही थी वहाँ गये। अञ्जना की एक सखी पवनंजय की प्रशंसा कर रही थी तो उसकी दूसरी सखी वसन्ततिलका विद्युत्प्रभ की प्रशंसा कर रही थी। अञ्जना शान्त चित्त से दोनों सखियों का कथन सुन रही थी। यह देख कर पवनंजय को मन में अत्यन्त खेद होने लगा। उसके मन में विचार आया कि अञ्जना सुन्दरी विद्युत्प्रभ की प्रशंसा करने वाली अपनी सखी को बोलने से क्यों नहीं रोकती? इस विचार से उसे अञ्जना पर अत्यन्त क्रोध आया। वह तलवार खींच कर उसका वध करने के लिए तत्पर हो गया परन्तु उसके मित्र प्रहसित ने उसे ऐसा करने से रोकते हुए कहा, 'मित्र! इस प्रकार क्रोध करने से अथवा अञ्जना पर क्रोधित होने से कोई लाभ नहीं होगा। अञ्जना केवल लज्जा के कारण ही उस सखी को बोलने से नहीं रोकती।'

प्रहसित के ऐसा कहने पर पवनंजय ने तलवार म्यान में डाल दी, परन्तु अञ्जना के प्रति उत्पन्न क्रोधाग्नि शान्त नहीं हुई। अञ्जना के साथ उसका विवाह हो गया। वे विवाह करके घर आ गये तो भी पवनंजय के मन में अञ्जना के प्रति जाग्रत क्रोध भड़कता ही रहा। अतः मन में कई कामनाएँ लेकर ससुराल आई हुई अञ्जना को पवनंजय ने मधुर वचन कहकर बुलाया तक नहीं। अञ्जना की नारी-सुलभ इस व्यथा को पवनंजय भला मनुष्य कैसे जान सकता था?

(२)

इसी बीच रावण को इन्द्र के दिक्पाल वरुण के साथ युद्ध करने के लिये विवश होना पड़ा। वरुण राजा अत्यन्त शक्तिशाली एवं पराक्रमी होने के कारण रावण ने विद्याधर राजाओं से भी सहायता माँगी। राजा प्रह्लाद ने अपने पुत्र पवनंजय को रावण की सहायतार्थ भेजने का निश्चय किया। पिता ने आज्ञा की, पवनंजय ने तुरन्त पिता के उक्त निर्णय को मान्य करके रावण की सेना में जाना स्वीकार किया।

अञ्जना सुन्दरी को जब इस बात का पता लगा तब उसने विदा होते पति को कहा, 'प्राणनाथ! विदा होते समय आप अपने अन्य स्वजनों-सम्बन्धियों के साथ हँसते हैं, बोलते हैं और केवल मेरे ही साथ आप इतने उदासीन क्यों हैं? मैंने ऐसे कौन से पाप किये हैं कि जिनके कारण मैं इस प्रकार का कष्ट भोग रही हूँ? मैं आपकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करने वाली आप की धर्मपत्नि हूँ, क्या यह बात आपके ध्यान में कभी आती ही नहीं है? होगा, इसमें मैं आपको क्यों दोष दूँ? मेरे पूर्व कर्मों के कारण ही मैं इस भव में ऐसी यातना भोग रही हूँ। नाथ! मैं अन्तःकरण से प्रार्थना कर रही हूँ कि आप युद्ध में विजयी होकर शीघ्र घर लौटें।'

परन्तु इन शब्दों का पवनंजय पर तनिक भी प्रभाव नहीं हुआ। उसने अञ्जना के शब्दों पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया और अञ्जना सुन्दरी को उसने दो मधुर शब्द भी नहीं कहे। उसे इस प्रकार रोती छोड़ पवनंजय विदा हुआ।

मार्ग में एक दिन वह एक सरोवर के तट पर बैठा था। धरा पर चाँदनी की शीतल द्युति अमृत की वृष्टि कर रही थी। इतने में पवनंजय ने एक चकवी को देखा, जो अपने चकवे के वियोग में घोर करुण क्रन्दन कर रही थी।

यह देखते ही पवनंजय के मन में विचार आया कि, 'ओह! दिन भर इस चकवी ने अपने पति के साथ क्रीडा की होगी तो भी यह रात्रि के पति-विरह को सह नहीं सकती और ऐसा घोर विलाप कर रही है। यदि इसे पति-विरह के कारण इतनी वेदना है तो मेरी पत्नी बेचारी अञ्जना की क्या दशा होगी? उसे कैसी विरह-वेदना होती होगी? मैंने उसके प्रति उदासीनता रख कर कैसा अपराध किया है? राचमुच, मैं उसका अपराधी हूँ। मुझे उसके सामने यह अपराध स्वीकार करना ही पड़ेगा।'

वह बात उसने अपने मित्र प्रहसित को कही। तत्पश्चात् वे दोनों रात्रि का विचार किये बिना आकाश-मार्ग से उड़ कर अञ्जना के महल में आये। पवनंजय ने अञ्जना से क्षमा याचना की। प्रहसित सन्तरी वन कर बाहर खड़ा रहा। पवनंजय एवं अञ्जना इतने आनन्द-विभोर हो गये कि रात्रि के प्रहर का भी उन्हें ध्यान न रहा। प्रहसित ने आवाज देकर पवनंजय को बुलाया अतः वह महल से बाहर आया। पवनंजय मन

में भयभीत हुआ कि यदि वह अपने माता-पिता अथवा अन्य स्वजन-सम्बन्धियों को मेरे आगमन के सम्बन्ध में बतायेगी तो वे लोग मुझे धिक्कारेंगे। इस भय से वह चुपचाप सरोवर की ओर विदा हो गया।

अञ्जना सुन्दरी गर्भवती हो गई। उस दिन से उसका गर्भ बढ़ता रहा। स्वजनों को इस बात का पता लगा। उसकी सास ने कहा, 'पापिन! मेरा पुत्र युद्ध में है और तेरे गर्भ कैसे रह गया? तू व्यभिचारिणी है। अतः इस घर में अब तेरा कोई स्थान नहीं है। तू इसी समय मेरे घर से निकल जा।'

पवनंजय ने वहाँ से विदा होते समय अञ्जना सुन्दरी को स्नेह के कारण अपने नाम वाली (नामांकित) एक रत्नजडित अंगूठी प्रदान की थी। अञ्जना ने वह अंगूठी बताकर कहा, 'आप मुझ पर विश्वास रखें। वे रात्रि में यहाँ आये थे। मैंने पर-पुरुष का कदापि सेवन नहीं किया। मैं सर्वथा निर्दोष हूँ।' परन्तु सास ने यह बात नहीं मानी और उसने राजा प्रस्वाद को कहा, 'पुत्र-वधू कुलटा है, इसे अपने पिता के घर भेज दिया जाय।'

(३)

राजा के सेवक अञ्जना को एक रथ में विठा कर उसके पिता के नगर महेन्द्रपुर के समीप छोड़ आये। अञ्जना के साथ थी केवल एक उसकी प्रिय सखी वसन्ततिलका।

अञ्जना को मन में विश्वास था कि 'मेरे पिता मुझे अवश्य आश्रय देंगे।' अतः उसने वसन्ततिलका को अपने पिता के प्रतिहारी के पास भेजा। वसन्ततिलका ने उस प्रतिहारी



अञ्जना की सास ने कहा, 'हे पापिन! तू व्यभिचारीणी है, अतः इस घर में तेरा कोई स्थान नहीं है, तू इसी समय यहाँ से चली जा!

के द्वारा अञ्जना के आगमन के समाचार उसके पिता को पहुँचाया। अञ्जना के गर्भवती होने की दशा जान कर पिता गहन विचार में पड़ गये और कलंकिनी पुत्री को घर में आश्रय देना उचित है अथवा नहीं - इस प्रश्न में ही उनकी बुद्धि चक्कर खाने लगी। इतने में उनका पुत्र प्रसन्नकीर्ति आया और पिता ने उसे समस्त वृत्तान्त से अवगत करा दिया।

तुरन्त प्रसन्नकीर्ति ने अञ्जना को तिरस्कृत करते हुए कहा, 'जा दुष्टा! चली जा, तेरे समान कलंकिनी के लिए इस घर में कोई स्थान नहीं है।'

राजा के एक बुद्धिमान एवं चिन्तक मंत्री ने राजा को निवेदन किया, 'आपका इस प्रकार क्रोधित होना उचित नहीं है। उस पर लगाया जाने वाला कलंक सत्य है अथवा असत्य, इसका भी आपको पता नहीं है, तो फिर आप किस आधार पर उसे कुलटा कह रहे हैं? चाहे जैसी हो फिर भी आप उसके पिता हैं, वह आपकी पुत्री है। सन्तान कुपात्र बन सकती है परन्तु माता-पिता कुत्सित नहीं होते - इस कहावत के अनुसार आपको उदार मन से इसे आश्रय देना ही चाहिये।'

राजा के मन पर मंत्री के उन वचनों का कोई प्रभाव नहीं हुआ। राजा बोला, 'आपका कथन चाहे जितना यथार्थ हो तब भी मैं उसे मानने के लिये तैयार नहीं हूँ। मुझे प्रतीत होता है कि पवनंजय को अञ्जना के प्रति प्रारम्भ से ही प्रेम नहीं है। वह अञ्जना का तिरस्कार करता रहा है। उस स्थिति में अञ्जना का गर्भवती होना सर्वथा असम्भव है। उसकी सास ने उसे निकाल दिया यह ठीक किया है। मैं भी उसे निकाल दूँगा। अब तो जंगल ही उसका आश्रय है।'

अपने पिता के मुँह से यह अपमान-सूचक शब्द सुनकर बिचारी अञ्जना के नेत्रों से अश्रु-धारा वहने लगी। उसने आँसुओं को रोकने का भरसक प्रयास किया, परन्तु वह आँसू रोक नहीं सकी। उसने अपने पिता को 'पिता' कहकर सम्बोधन करने का प्रयत्न किया परन्तु वे शब्द उसकी जीभ पर आने से पूर्व ही मर गये।

दुःख की अवधि मानो शेष हो उस प्रकार प्रतिहारी ने अञ्जना का हाथ खींच कर द्वार से बाहर निकाल दिया। चौधार आँसुओं से रोती निराधार अञ्जना अपनी प्रिय सखी वसन्ततिलका के साथ पुनः नगर से बाहर निकली।

लौट कर वह कहाँ जाती? ऊपर आकाश और नीचे धरती। उसे आश्रय देने वाला कौन था? मानव-मात्र उसका तिरस्कार कर रहा था। उसके टूटे दिल को सान्त्वना देने वाला कोई नहीं था।

भूख-प्यास से सन्तप्त अञ्जना बड़बड़ाने लगी, 'हे कुल की प्रतिष्ठा की रक्षक सास! तुमने मुझ व्याभिवारिणी, कुलटा को घर से निकाल कर अपने कुल की प्रतिष्ठा अखण्ड

रख कर श्रेष्ठ ही किया है, और पिताजी! आपने भी अपनी कलंकिनी पुत्री को अपने द्वार से धक्के मार कर निकाल दिया यह सर्वथा उचित है और प्रिय भाई प्रसन्नकीर्ति! मैं तुम्हारा भी अभिनन्दन करती हूँ कि तुमने अपनी पापी बहन को जंगल में भेज दिया; परन्तु मैं इस प्रकार कटाक्ष (व्यंग) क्यों कर रही हूँ? इसमें उन लोगों का क्या दोष? मेरे भाग्य का ही दोष है। विधि का विरोध करने से लाभ भी क्या है? कर्म का ही कोई दोष होगा। आज मेरे पतिदेव मेरे पास नहीं हैं। पतिविहीन पत्नी को कैसे-कैसे कष्ट सहन करने पड़ते हैं इसका मुझे आज अनुभव हो रहा है।'

इस प्रकार रोती-विलाखती अञ्जना ने मानो जंगल के वृक्षों एवं पशुओं को रुलाया हों, इस भाव को प्रकट करते हुए वृक्षों से पत्ते झड़ने लगे। इसी मध्य श्री अमितगति मुनि मिले। उन्होंने उसे धर्मलाभ का आशीर्वाद दिया और उसे उसका पूर्व-भव बताकर उसे धैर्य बँधाया।

### (४)

नौ माह के पश्चात् अञ्जना ने एक पराक्रमी पुत्र को जन्म दिया, परन्तु पुत्र के जन्मोत्सव मनाने के लिए इस समय अञ्जना के पास एक फूटी कौड़ी भी कहाँ थी? इतने में 'प्रतिसूर्य' नामक एक खेचर वहाँ आया। उसने अञ्जना का वृत्तान्त सुनकर उसे कहा, 'हे अञ्जना! तू मुझे पहचानती नहीं है परन्तु मैं तेरा मामा लगता हूँ। अतः तुम सब मेरे साथ चलो।' तत्पश्चात् वह उन सबको एक विमान में बिठा कर अपने नगर हनुमानपुर ले चला। मार्ग में अञ्जना का पुत्र विमान के रत्नमय झुमके को पकड़ने के लिए माता की गोद में से बाहर कूद पड़ा। वह कूदा हुआ बालक एक पहाड़ पर गिरा और उसके अंगों के प्रहार मात्र से उस पहाड़ के टुकड़े-टुकड़े हो गये। प्रतिसूर्य ने उस बालक को पुनः उसकी माता की गोद में लाकर रखा। वह बालक सर्व प्रथम हनुमानपुर नगर में आया होने से उसका नाम 'हनुमान' रखा गया और उसके भार से पहाड़ के टुकड़े-टुकड़े हो जाने से उसका दूसरा नाम 'श्रीशैल' रखा गया। दिन-प्रतिदिन हनुमान बड़ा होने लगा।

रावण के साथ गये हुए पवनंजय ने वरुण को पराजित किया और अन्य राजाओं को अपना पराक्रम बताया। रावण की अनुमति लेकर जब वह घर आया तब उसे ज्ञात हुआ कि गर्भ-सम्भावना के कारण अञ्जना घर से निकाल दी गई है। पवनंजय अत्यन्त विलाप करता हुआ जंगल में चला गया और वह अञ्जना के पीहर में गया। वहाँ भी अञ्जना का किसी ने सत्कार नहीं किया था, यह सुनकर पवनंजय को अत्यन्त दुःख हुआ। उसने अग्नि में प्रवेश करके अग्नि-स्नान करने का निर्णय किया। उसने अपने माता-पिता को अपने अग्नि-प्रवेश के निर्णय का समाचार दिया। समाचार सुनकर

उसके पिता तुरन्त आकुल-व्याकुल हो गये। उन्होंने तुरन्त अञ्जना की खोज करने के लिए अपने सेवकों को दसों दिशाओं में भेजा और स्वयं अपनी पत्नी के साथ जहाँ पवनंजय अग्नि-प्रवेश करने वाला था वहाँ आ पहुँचा। उनके सेवक ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हनुमानपुर पहुँचे। अञ्जना ने पवनंजय का निर्णय सुनकर अत्यन्त क्रन्दन करना प्रारम्भ किया। उसका विलाप सुनकर प्रतिसूर्य ने उसे आश्वासन दिया और वह एक विमान में अञ्जना तथा हनुमान को बिठाकर जहाँ पवनंजय था उस जंगल में आ पहुँचा। अञ्जना को देख कर पवनंजय ने अपनी भूल की क्षमा याचना की।

तत्पश्चात् अञ्जना के पिता, भाई, मास, समुर सब मिले। सबने अञ्जना के धैर्य की सराहना की और अपनी भूल के लिए क्षमा याचना की। तत्पश्चात् पवनंजय एवं अञ्जना वैराग्य-मार्ग की ओर मुड़ गये और आत्म-कल्याण किया।

इतने में रावण को पुनः वरुण के साथ युद्ध करना पड़ा, जिसमें हनुमान कतिपय सामन्तों को लेकर सम्मिलित हुआ। वरुण अपने सौ पुत्रों को लेकर युद्ध-भूमि में आ धमका। हनुमान ने उन पुत्रों को पशुओं की तरह बाँध लिया। रावण एवं वरुण के मध्य घमासान युद्ध हुआ। अन्त में रावण ने वरुण एवं उसके पुत्रों को बन्दी बना कर अपनी छावनी में ले आया और फिर उन सबको मुक्त कर दिया। वरुण ने अपनी पुत्री सत्यवती का हनुमान के साथ विवाह कर दिया और रावण ने शूर्पणखा की पुत्री अंगकुमुमा हनुमान को ब्याह दी। इस प्रकार की एक हजार कन्याओं के साथ विवाह करके पराक्रमी हनुमान घर लौटा। (लघुत्रिपिण्डिशलाका पुरुषचरित्र में)



सती अंजना के पिता, भाई, मास-समुर सभी ने अंजना की सतीत्व एवं धीरता को प्रशंसा की।

जहाँ लाभ वहाँ लोभ अर्थात्

## कपिल केवली की कथा

(१)

कपिल कौशाम्बी के राजा जितशत्रु के पुरोहित काश्यप का पुत्र था। उसकी माता का नाम यशा था। माता-पिता के इस इकलौते पुत्र का जन्म बड़ी उम्र में हुआ था। राजपुरोहित काश्यप ने उसे शिक्षित करने के अनेक प्रयत्न किये, पर वह शिक्षा ग्रहण नहीं कर सका। अतः उसे अपने भाग्य पर छोड़ कर काश्यप ने मन मोड़ लिया।

कपिल के बड़े होने से पूर्व ही काश्यप का देहान्त हो गया। राजा जितशत्रु ने कपिल की ओर दृष्टि डाली परन्तु उसकी आयु छोटी थी और आयु के प्रमाण में बुद्धि भी अल्प ही थी। अतः राजा ने किसी अन्य महा विद्वान को राज-पुरोहित के पद पर नियुक्त किया।

(२)

'माता! तू क्यों रो रही है? तुझे क्या कष्ट हो रहा है? क्या तेरे सिर में वेदना हो रही है? क्या तेरा किसी ने अपमान किया है?' सिसक-सिसक कर रोती यशा को चौदह वर्ष का कपिल पूछने लगा।

यशा ने कहा, 'पुत्र! न तो मेरे सिर में वेदना हो रही है, न किसी ने मेरा अपमान किया है। मैं तो तेरा रंग-ढंग देखकर रो रही हूँ। तेरे पिता जब राजपुरोहित थे तब वे अथ पर बैठते थे, जरी का दुपट्टा डालते थे और लोग 'खम्मा खम्मा' करते थे। राजा तथा प्रजा दोनों का उनके प्रति इतना सम्मान था कि कुछ न पूछो बात। वे गये और सब गया। राजा ने तेरे लिए पूछ-ताछ की परन्तु तू कुछ पढ़ा नहीं और पढ़ने योग्य प्रतीत नहीं हुआ। अतः उन्होंने नये पुरोहित को नियुक्त किया। वे नये पुरोहित नित्य अपने घर के सामने से निकलते हैं। आज मैंने जब उन्हें जाते हुए देखा तो मुझे तेरे पिता की क्रुद्धि एवं सम्मान का स्मरण हुआ और इस ओर तेरी बाल-चेष्टा एवं तेरे अज्ञान को विचार कर मेरा मन दुःखी हो गया। पुत्र! तू पढ़ा होता तो राजपुरोहित न बन जाता? ब्राह्मण का पुत्र शिक्षा ग्रहण न करे तो फिर उसकी पूजा कैसे होगी? उसके समस्त कार्य शिक्षित हुए बिना थोड़े ही आगे आते हैं?'

कपिल की आँखें भर आईं, उसके हृदय में पश्चाताप हुआ और वह बोला, 'माता! पुत्र होते हुए भी तू निपूती सी हो गई, सत्य है न? पिता के जीवित रहते मैं नहीं समझा,

मरते-मरते मैं उनके नेत्रों को शीतलता प्रदान नहीं कर सका। माता! धैर्य रख, मैं अभी वृद्ध नहीं हुआ। मैं परिश्रम करूँगा और विद्वान बन कर तुझे प्रसन्न करूँगा। माता, वता मैं किसके पास शिक्षा ग्रहण करने जाऊँ?’

यशा ने कहा, ‘पुत्र! कौशाम्बी में विद्वान तो अनेक हैं परन्तु पद से उतरा हुआ अधिकारी कौड़ी का होता है, उस प्रकार तेरे पिता नहीं है अतः अब किसको तेरी लज्जा रुकावट करती है? तू पुरोहित का पुत्र है अतः शिक्षित करने में अन्य लोग हिचकिचायेंगे, क्योंकि सबको नये पुरोहित से भय लगता है। उनके मन में ऐसा होगा कि कहीं नये पुरोहित को बुरा न लगे।’

‘माता! कौशाम्बी के अतिरिक्त क्या अन्यत्र श्रेष्ठ विद्वान् नहीं है?’ कपिल ने अब तत्परता बताते हुए कहा।

‘श्रावस्ती में तेरे पिता के परम मित्र इन्द्रदत्त महान् विद्वान् हैं। यदि वहाँ तू चला जाये तो वे पुत्रवत् तुझे सम्हालेंगे और अच्छी तरह शिक्षित करेंगे; परन्तु मेरा मन तुझे बाहर भेजने में हिचकिचाता है’ - यशा ने मार्ग बताते हुए कहा।

‘माता! मैं श्रावस्ती जाऊँगा और मन लगा कर शिक्षा ग्रहण करके विद्वान बनूँगा तथा तेरे मन को शीतलता प्रदान करूँगा।’

शुभ दिन, शुभ शकुन देखकर माता द्वारा वना कर दिया हुआ भोजन लेकर, माता के चरण स्पर्श करके कपिल ने कौशाम्बी से प्रस्थान किया और धीरे धीरे वह श्रावस्ती पहुँचा।

### (३)

श्रावस्ती नगरी में पन्द्रह वर्ष का किशोर कपिल ऊँचे-ऊँचे भवनों को देखता हुआ आगे बढ़ रहा है और जो मिलता है उससे इन्द्रदत्त विद्वान का नाम पूछता जाता है। चौराहा पार करके आगे जाने पर एक चौक में बहुत से विद्यार्थियों के एक समूह द्वारा घिरे हुए एक अधेड उम्र के नंगे वदन तेजस्वी ब्राह्मण को उसने देखा और उनके मध्य जाकर उसने पूछा, ‘यहाँ इन्द्रदत्त महाविद्वान् कहाँ रहते हैं?’

तेजस्वी ब्राह्मण ने चेहरा ऊपर उठाया और उस युवक की ओर देखा तो मित्र काश्यप की ही मानो प्रति कृति हो वैसा यह युवक प्रतीत हुआ। वे बोले, ‘बोलो, इन्द्रदत्त से क्या कार्य है? मैं ही हूँ इन्द्रदत्त।’

कपिल ने तुरन्त अभिवादन करके उनके चरण स्पर्श किये और कहा, ‘माता यशा ने मुझे आप के पास अध्ययन करने के लिए भेजा है। मेरा नाम कपिल है और मैं कौशाम्बी के राजपुरोहित काश्यप का पुत्र हूँ।’

विद्यार्थियों का अध्ययन पूर्ण होने के पश्चात् इन्द्रदत्त उसे अपने साथ घर ले गये।

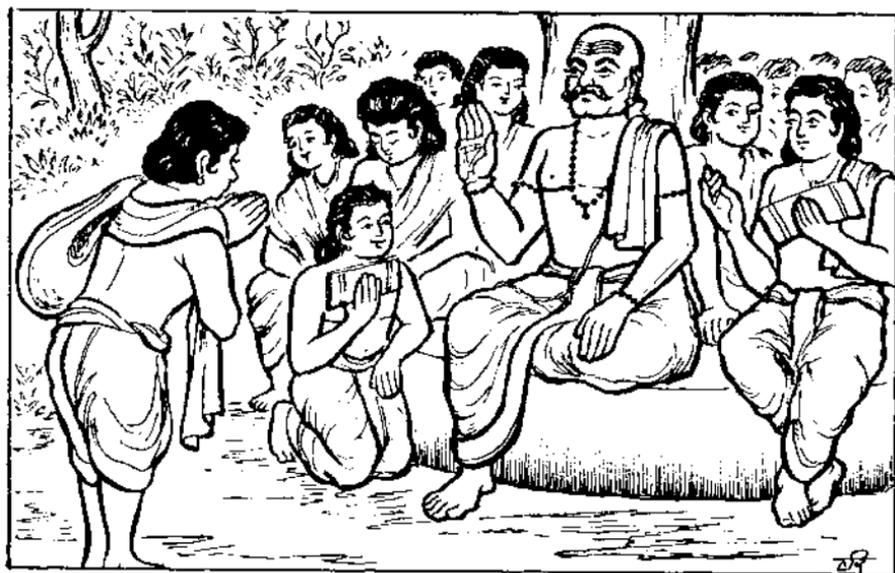
उसे स्नान कराया, भोजन कराया और आदर पूर्वक उसे अपने निवास पर रखा।

दो-चार दिन व्यतीत होने पर इन्द्रदत्त संकोच में पड़ गये। मित्र के पुत्र को इन्कार भी नहीं किया जा सकता और नित्य अपने घर भोजन भी नहीं करवाया जा सकता है। अतः क्या किया जाये? विचार करते-करते उन्हें पड़ौसी शालिभद्र का घर याद आया।

(४)

अवकाश का दिन था। उपाध्याय इन्द्रदत्त और कपिल दोनों घर से निकले। एक मानो गजराज था और दूसरा मानो यौवन में प्रविष्ट होता गज-शावक। शालिभद्र के घर जाकर इन्द्रदत्त ने 'ॐ भूर्भुवः स्वः' का मन्त्रोच्चार प्रारम्भ किया।

शालिभद्र ने दोनों का स्वागत किया और महाविद्वान इन्द्रदत्त से आगमन का कारण पूछा। इन्द्रदत्त ने कहा, 'श्रेष्ठिवर्य! कार्य तो अन्य कोई नहीं है, परन्तु यह साथ में आया हुआ युवक मेरे मित्र का पुत्र है। इसे अध्ययन करना है। ब्राह्मण-पुत्र भिक्षा माँग कर अध्ययन कर सकता है, परन्तु इसकी आयु बड़ी हो गई है और अध्ययन बहुत करना है। अतः किसी उत्तम धनाढ्य के घर भोजन करने की सुविधा हो जाये तो सुख से अध्ययन कर सकेगा। शिक्षा प्राप्त करने वाले को आश्रय देने का महा फल है।'



एक चौक में बहुत से विद्यार्थियों के एक समूह द्वारा घिरे हुए एक अर्धेड उग्र के नंगे बदन तेजस्वी ब्राह्मण को कपिल ने देखा.

शालिभद्र ने कहा, 'महाराज! इन्हें सहर्ष भेजें।' युवक की ओर उन्मुख होकर उन्होंने कहा, 'तुम नित्य यहां आकर दोनों समय भोजन कर जाना।'

अध्ययन करने की तीव्र अभिलाषा, सहाध्यायी का योग और निश्चिन्तता के कारण वह ज्ञान-क्षेत्र में प्रवेश कर लगन से अध्ययन करने लगा। देखते ही देखते उसने अच्छा अध्ययन कर लिया और शालिभद्र के घर सात्विक आहार से उसकी देह भी वैसी ही हृष्ट-पुष्ट हो गई।

(५)

कपिल जब श्रावस्ती में आया तब अनपढ़, अनगढ़ एवं संस्कार रहित था। अब वह चतुर एवं बुद्धिमान बन गया था। शालिभद्र सेठ के घर मनोरमा नामक एक युवा दासी थी। सेठ के घर पर सबके भोजन करने के पश्चात् कपिल आता। कपिल को मनोरमा भोजन परोसती और प्रेम पूर्वक खिलाती। समय बीतते-बीतते उनमें परस्पर प्रेम हो गया। कपिल एवं मनोरमा परस्पर उलझ गये। कभी-कभी इन्द्रदत्त को उलटा-सीधा समझाकर कपिल शालिभद्र के घर रह जाता। कभी दासी सेठ के घर से वहाना बना कर कपिल के साथ आनन्द मनाने अन्यत्र चली जाती। कई दिनों तक इस प्रकार परस्पर चलता रहा।

एक वार कौशाम्बी में भारी उत्सव था। समस्त स्त्रियाँ नये-नये वस्त्र पहन कर घूमने जा रहीं थी। उनमें भी दास-दासियाँ तो विशेष रूप से आगे थी। मनोरमा ने कपिल को कहा, 'तेरे समान युवा मेरा प्रिय है और फिर भी मुझे फटे हुए वस्त्रों में रहना पड़ता है। देख तो ये सब दास-दासियाँ कैसा आनन्द मना रहीं हैं? क्या तू मुझे वस्त्र लाकर नहीं दे सकता?'

कपिल कमाना जानता नहीं था। उसने श्रावस्ती में आने के पश्चात् पैसों की शक्ल भी नहीं देखी थी, क्योंकि भोजन तो सेठ के घर करना था और वस्त्र भी यजमान के घर से प्राप्त हो जाते थे। उसने कहा, 'मनोरमा! पैसों के बिना यह कैसा सम्भव हो सकता है?'

मनोरमा ने कहा, 'मेरी बात मानो तो वस्त्र आये उतने पैसे प्राप्त हो जायेंगे।'  
'किस प्रकार?'

'इस नगर में धन नामक एक अत्यन्त धनवान सेठ है। उसके घर प्रातःकाल जो सर्व प्रथम उसे आशीर्वाद प्रदान कर कृतार्थ करता है, उसे वह दो माशा स्वर्ण प्रदान करता है और आप यदि वह ले आये तो मेरे वस्त्रों का मूल्य निकल आवेगा', - दासी ने मार्ग बताते हुए कहा।

कपिल प्रसन्न होकर बोला, 'मनोरमा! तो अवश्य ही मैं सेठ के घर जाऊँगा और

दो माशा स्वर्ण लाकर तुझे दूँगा।'

फिर मनोरमा एवं कपिल दोनों अलग पड़ गये। कपिल अपने स्थान पर चला गया। रात ब्यतीत होने लगी। कपिल के मन में विचार आया कि प्रातः जल्दी अन्य कोई व्यक्ति 'धन' सेठ के घर पहुँच गया तो मैं लटकता रह जाऊँगा। अतः वह अर्द्ध रात्रि के समय घर से निकल पड़ा और धन सेठ के घर की ओर चला। अभी रात बहुत शेष थी। कपिल धन सेठ के घर के आसपास चक्कर लगाने लगा। इतने में सन्तरी आवाज लगाते हुए आये। उन्हें देख कर कपिल दूर भाग गया। सन्तरियों ने उसका पीछा किया तो कपिल तीव्र वेग से दौड़ा। सन्तरियों ने उसे भागता हुआ देख कर चोर समझ कर पकड़ लिया और अधिक पूछताछ किये बिना ही उसे कारागार में डाल दिया।

(६)

श्रावस्ती नगरी का राजा प्रसेनजित था। यह परोपकारी, न्यायी और बुद्धिमान था। राजा स्वयं ही न्याय करता था और उचित दण्ड वह स्वयं ही देता था।

महाराजा के दरवार में आते ही सन्तरियों ने कपिल को उनके समक्ष उपस्थित किया। राजा ने कपिल की ओर देखकर पूछा, 'सत्य बोलो, तुम कौन हो और चोरी क्यों की?'

कपिल ने कहा, 'राजन्! मैं ब्राह्मण पुत्र हूँ। यहाँ इन्द्रदत्त पुरोहित के पास विद्याध्ययन करने के लिए आया था। उनकी अनुशंसा पर शालिभद्र सेठ के घर भोजन करता



कपिल ने मनोरमा से कहा, 'मैं जरूर से सेठ के पास जाऊँगा एवं दो माशा स्वर्ण लाकर तुझे दूँगा।'

था। वहाँ एक दासी के साथ मेरा प्रेम हो गया और इस समय उसके लिये ही दो माशा स्वर्ण प्राप्त करने के लिए निकला था। मार्ग में मुझे चोर समझ कर सन्तरियों ने बन्दी बना लिया।’

राजा कपिल की सत्य वाणी सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला, ‘ब्राह्मणपुत्र! तुम जो माँगोगे मैं वह दूँगा। मैं तुम्हारी सत्यता से अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूँ।’

कपिल के मुँह से निकला, ‘राजन्! क्या माँगना है उसका विचार करके कहूँ तो?’ राजा ने कहा, ‘कोई बात नहीं, विचार करके माँगो।’

कपिल राज दरबार के पीछे अशोक-वटिका में जाकर सोचने लगा, ‘मनोरमा ने दो माशा स्वर्ण माँगा है, परन्तु उसका भरोसा थोड़े ही है कि वह फिर स्वर्ण के आभूषण नहीं माँगोगी? और जब वह माँगोगी तब कहाँ से लाऊँगा? अतः राजा के पास एक सौ माशा स्वर्ण ही माँग लूँ।’ निश्चय करके जाने लगा तो विचार आया कि मनोरमा सेठ शालिभद्र के घर रहती है। कल यदि सेठ उसे निकाल दे और घर वसाना पड़े तो एक सौ माशा स्वर्ण से क्या होगा? राजा प्रसन्न हुआ है तो फिर एक हजार माशा स्वर्ण क्यों न माँगा जाये?’ कपिल एक हजार माशा स्वर्ण माँगने का निश्चय करके खड़ा हुआ। दो कदम आगे चला तो विचार आया कि, ‘यह तो गृहस्थी है, कल वाल-वच्चे होंगे, सबका काम एक हजार स्वर्ण माशों में थोड़े ही पूर्ण होने वाला है? यदि माँगना ही है तो एक लाख माशा ही माँग लूँ, परन्तु यह तो मैंने अपने स्वार्थ की ही बात की है। राजा प्रसन्न हुआ है तो परिवार, सम्बन्धियों, स्वजन-स्नेहियों का भी कल्याण क्यों न करूँ? और उसके लिए तो एक करोड़ माशा हो तो ही ठीक रहेगा और माँगना भी उचित गिना जायेगा।’

कपिल का मन लोभ में आगे बढ़ा और सोचने लगा, ‘यह सब तो ठीक है परन्तु गाँव में छप्पन करोड़पतियों का कहाँ अभाव है? हम माँगेंगे तो भी नगर के बड़े धनी तो नहीं ही गिने जायेंगे न? माँगें तो फिर कम क्यों माँगें? तो क्यों न राजा का आधा राज्य ही माँग लूँ ताकि अन्य कोई वरावरी करने वाला ही न रहे।’ राजा आधा राज्य प्रदान करे तो भी वह अपना तो ऊपरी ही रहेगा। तब क्या मैं सम्पूर्ण राज्य माँग लूँ? कपिल को राजा बनूँगा ऐसी सुख की लहर आई परन्तु पल भर के लिए गहराई में उतरने पर उसे विचार आया और अपनी आत्मा को सम्बोधित करके बोल उठा, ‘अरे कपिल! तुझे आवश्यकता थी केवल दो माशा स्वर्ण की और तू बढ़ते-बढ़ते सम्पूर्ण राज्य लेने के लिए तत्पर हो गया? जिसने तेरे साथ सद् व्यवहार किया उसे ही तू वर्वाद करने पर तुल गया? क्या यह तेरी मनुष्यता है? लोभ का कोई अन्त है? यह तो दावानल तुल्य है, बढ़ता ही जायेगा। उसमें ज्यों ज्यों ईंधन डालोगे त्यों त्यों उसकी

ज्वालाएँ उठती ही जायेंगी। उनका शमन तो जल छिड़कने पर होगा। लोभ रूपी दावानल के शमन के लिए सन्तोष रूपी जल की आवश्यकता होती है। कपिल का मन राजा की सम्पत्ति पर से उतर गया और साथ ही साथ दो माशा स्वर्ण की लालसा भी शान्त हो गई।

उसे अपना भूतकाल स्मरण हुआ। माता ने मुझे श्रावस्ती विद्याध्ययन हेतु भेजा था। इन्द्रदत्त ने मेरे अध्ययन के लिए भोजन की व्यवस्था कर दी। मैं माता से विश्वासघात करके विद्याध्ययन के बजाय विषयाध्ययन में लीन हुआ। इन्द्रदत्त पुरोहित के शुभ प्रेम का मैंने दुरुपयोग किया। उसने मित्र-पुत्र समझकर मेरे भोजन का प्रबन्ध किया। जिसके घर मेरे भोजन का प्रबन्ध किया उसी की दासी के साथ मैंने व्याभिचार एवं प्रेमालाप करना प्रारम्भ किया। मैंने न तो माता का विचार किया, न इन्द्रदत्त का विचार किया, न किया ब्राह्मण धर्म के कुलाचार का विचार और न किया पिता की प्रतिष्ठा का विचार। मुझे अब राजा का राज्य नहीं चाहिये और न मुझे दासी की प्रसन्नता ही चाहिये। कपिल के मन में अपने दुराचार के प्रति तिरस्कार उत्पन्न हुआ। इस प्रगाढ़ वैराग्य के पश्चात् उसका मन विरक्त हो गया।

उसने वहीं स्वयं ही केश लोच करके मुनि-वेष धारण किया और तत्पश्चात् वह राजा की पर्यदा में आकर बोला -

यथा लोभस्तथा लाभो लाभाल्लोभः प्रवर्धते।

माशद्वयाश्रितं कार्यं, कोट्यापि नहीं तिष्ठितम्।।

‘हे राजन्! ज्यों लाभ होता है त्यों लोभ की वृद्धि होती है। मेरे केवल दो माशा स्वर्ण का काम था। आप प्रसन्न हो गये और माँगूँगा वह प्रदान करने का कहा, जिससे मेरा चित्त लोभ में पड़ गया। वह चित्त लाख एवं करोड़ से भी शान्त नहीं हुआ। राजन्! अब मुझे आपसे कुछ नहीं चाहिये। जो चाहिये वह मुझ में स्वयं में विद्यमान सन्तोष-धन है और इस सन्तोष-धन के प्रताप से मुझे जिसकी आवश्यकता थी वह मुनि-वेष मैंने धारण किया है। राजन्! आपको मेरा धर्मलाभ।’ यह कहकर मुनि ने राज-सभा से निकल कर पृथ्वी पर विहार करना प्रारम्भ किया।

(७)

राजगृही नगर से तनिक दूरी पर अठारह कोस का घना वन था। उस वन में पाँच सौ चोर रहते थे। वे यदा-कदा वन में से निकल कर किसी शहर अथवा गाँव को लूटकर पुनः वन में चले जाते।

कपिल मुनि ने क्षपक श्रेणी में चढ़कर छः माह में केवलज्ञान प्राप्त किया और उन पाँच सौ चोरों को प्रतिबोध देने के लिए वे वन में प्रविष्ट हुए। दूर से चोरों ने उन्हें

आते देखा और वे उन्हें अपने पल्लीपति के पास ले गये। पल्लीपति ने कहा, 'महाराज, आपके पास क्या है कि हम आपको लुटें? हम सब एकत्रित हुए हैं तो आप थोड़ा नृत्य करें और हम तालियाँ बजा कर वाद्य-यन्त्र बजायें।'

चोर ताली बजाने लगे और कपिल केवली ने नृत्य करते करते यह ध्रुव पद ललकारा-  
'अनित्य, अस्थिर एवं दुःखमय संसार में मैं कौनसा कर्म करूँ कि जिससे मेरी दुर्गति न हो?'

कपिल केवली एक के पश्चात् एक ध्रुवपद ललकारते रहे। वे समस्त पाँच सौ चोर व्याकुल हुए और केवली से संयम ग्रहण किया। कपिल केवली द्वारा उच्चारण किये गये ध्रुवपद 'कपिल केवली अध्ययन' के रूप में उत्तराध्ययन में सम्मिलित हुए।

कपिल केवली कुछ समय तक विचरण कर मोक्ष गये।

(उत्तराध्ययन-ऋषिमंडलवृत्ति से)

### ज्ञान

ज्ञान के द्वारा संसार से कैसे छूटा जाये यह कला सबको सीखनी है। संसार से मुक्त होकर आत्म-कल्याण किस प्रकार करना है, यह जानना है। पाप से पीछे हटना है। जबकि आज तो ज्ञान का दुरुपयोग हो रहा है। संसार में कैसे स्थिर हुआ जा सकता है उसकी कला खोजी जाती है। धन किस प्रकार एकत्रित करना है, भोगों का उपभोग कैसे करना है, संसार को हरा-भरा कैसे बनाना है आज तो इसके लिए ही ज्ञान का उपयोग होता है।

(२२)

## संयोग-त्याग अर्थात् नमि राजर्षि का वृत्तान्त

(१)

**मिथिला-नरेश पद्मरथ** के कोई पुत्र न था। इस कारण राजा एवं रानी **पद्ममाला** अत्यन्त खिन्न रहते थे, परन्तु प्रकृति के नियमों के आगे मनुष्य का वश थोड़े ही चलता है? एक वार पद्मरथ राजा वन में जा पहुँचे जहाँ उन्होंने एक वृक्ष के नीचे किल्लोल करते एक नवजात शिशु को देखा। राजा ने उसे लाकर अपनी रानी **पद्ममाला** को सौंप दिया।

राजा ने **मिथिला** में पुत्र का जन्म-महोत्सव मनाया। लोगों को सन्देह तो हुआ परन्तु वे उसकी अधिक गहराई में न उतर कर राजा के साथ जन्म-महोत्सव में सम्मिलित हुए। इस पुत्र के घर में आने के पश्चात् राजा के प्रताप में वृद्धि होने लगी और आसपास के राजा एक के पश्चात् एक आकर उसके अधीन होने लगे। राजा को यह सब प्रताप पुत्र के आगमन के कारण आया हुआ प्रतीत हुआ और इस कारण उसने उसका नाम **नमिराज** रखा।

**नमिराज** का धायमाता के द्वारा पालन-पोषण हुआ। बाल्यकाल से किशोरावस्था और तत्पश्चात् वह युवावस्था को प्राप्त हुआ। **नमिराज** ने देखते ही देखते सैकड़ों रूपवती नवयुवतियों के साथ विवाह किया।

**नमिराज** के प्रति प्रजा का प्रेम एवं आदर-मान देखकर राजा **पद्मरथ** कृतकृत्य हुआ और उसने वैराग्य-मार्ग की ओर अपना मन मोड़ा। तत्पश्चात् **पद्मरथ** ने सुविहित साधु के पास संयम अङ्गीकार किया और उत्तम प्रकार से उसका पालन करके मुक्ति प्राप्त की।

(२)

**नमिराज मिथिला** का नरेश बना। जैसे उसने देखते ही देखते राज्य का बहुत विस्तार किया वैसे ही लोगों के हृदय में प्रेम का भी विस्तार किया।

**नमिराज** के पास हस्तिदल, अश्वदल और प्यादों का दल था। हस्तिदल में ऐरावत हाथी के समान एक सुन्दर गजराज था। स्वर्ण की जंजीरें, सुन्दर आवास एवं राजा के वहाँ प्राप्त सुस्वादु भोजन करते हुए भी हस्तिराज को विन्ध्याचल की स्वतन्त्रता का स्मरण हुआ। उसने स्वर्ण-शुंखलाएँ तोड़ डाली, हस्तिशाला तोड़ दी और **मिथिला** को तहस-नहस करके भाग छूटा। कोई भी उसे पकड़ नहीं सका। वह जंगल, गाँव, नगर

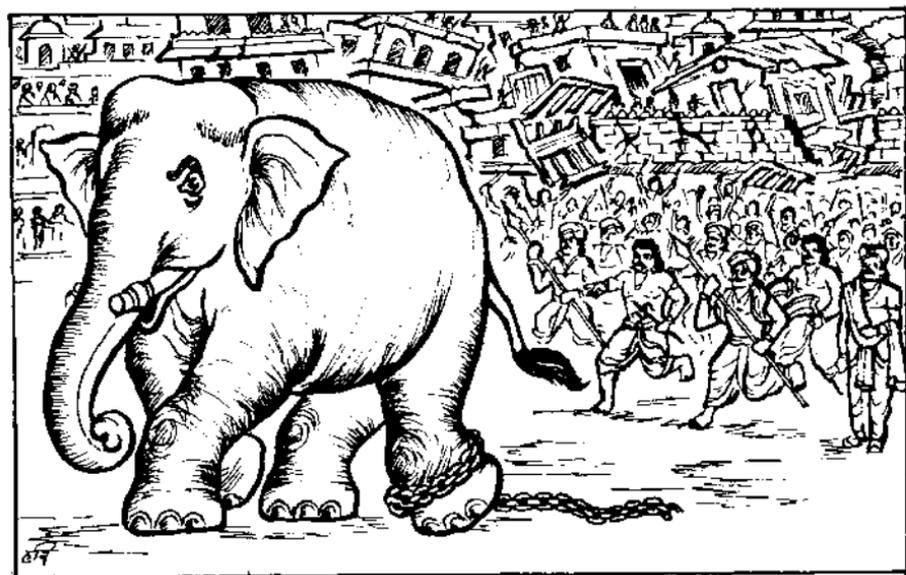
पार करता हुआ सुदर्शनपुर की अटवी में आया। वहाँ के रक्षकों ने उसे घेर लिया। हाथी थका हुआ एवं भूखा होने से शरण में आ गया। सुदर्शनपुर के राजा ने उसे हस्तिशाला में प्रविष्ट कर दिया।

जब नमिराज को इस बात का पता लगा तो उसने अपने दूतों को सुदर्शनपुर भेज कर चन्द्रयशा राजा से हाथी को लौटाने की माँग की। चन्द्रयशा ने बात स्वीकार नहीं की। अतः इन दोनों राजाओं में युद्ध भड़क उठा।

नमिराज ने विशाल सेना लेकर सुदर्शनपुर की ओर प्रयाण किया। चंद्रयशा भी अपनी सेना तैयार करके सामना करने के लिए तैयार हुआ, परन्तु शुभ शकुन नहीं होने के कारण अन्न-पानी का संग्रह करके वह नगर में ही रहा। सुदर्शनपुर के बाहर आमने-सामने युद्ध के मोर्चे लगाये गये। नमिराज सुदर्शनपुर में प्रविष्ट होने का प्रयास कर रहा था और चन्द्रयशा उसे रोकने का प्रयास कर रहा था।

### (३)

'महाराज आइये' कह कर अपने शिविर की ओर आती हुई एक प्रौढ़ उम्र की साध्वी को नमिराज ने नमस्कार किया। साध्वी शिविर के भीतर आई और आसन विछा कर बैठ गई। राजा के सम्मुख बैठने पर साध्वी ने कहा, 'राजन्! यह युद्ध किस लिए? बड़े भाई ने एक हाथी ले लिया इस पर मिथिला छोड़ कर इतनी सेना लेकर लड़ने के लिए



साध्वीने स्वर्ण-शुभ्रवर्ण लोड़ वाली, हस्तिशाला लोड़ दी  
और मिथिला का तहम-नहस करके भाग छूटा.

निकल पड़े? हाथी, प्यादे अथवा समृद्धि क्या साथ आने वाली है? असार सम्पत्ति के लिए भाई भाई में युद्ध होना क्या उचित है?’

नमिराज से रहा नहीं गया। वह वीच में बोल उठा, ‘पूज्य आर्या! आपने संयम ग्रहण किया है। महाव्रतों को जीवन में उतारा है। आप असत्य नहीं बोलेंगी, यह मैं मानता हूँ, परन्तु आप बार-बार चन्द्रयशा का मेरे भाई के रूप में परिचय क्यों दे रही हैं, इसका मुझ पता नहीं लग रहा है। जग-प्रसिद्ध बात यह है कि मैं पद्मरथ राजा का पुत्र हूँ और चन्द्रयशा युगबाहु का पुत्र है। हमारी सातवीं पीढ़ी में भी कोई सम्बन्ध नहीं है। विदुषी माध्वी! क्या आप मानव-मानव को भाई मानने के शुद्ध उदार आशय से तो चन्द्रयशा को मेरा भाई नहीं कह रही है?’

‘नहीं, चन्द्रयशा तो तेरा सगा भाई है। चन्द्रयशा के माता-पिता तेरे माता-पिता हैं, इस कारण मैं उसे तेरा भाई कहती हूँ। मानव मात्र के प्रति बन्धुत्व की भावना क्रोध से धधकते रणाङ्गण में तेरे अन्तर में इस समय उतरनी अत्यन्त कठिन है। मैं तो सगे भाई के साथ युद्ध करने से तुझे रोकने आई हूँ।’

‘पूज्य! मैं इस विषय में कुछ समझता नहीं हूँ। आप यह बात अत्यन्त स्पष्टता पूर्वक कहें।’ राजा ने उत्कण्ठा से सचेत होकर पूछा।

माध्वी ने गम्भीरता से कहना प्रारम्भ किया, ‘सुन, नमिराज! सुदर्शन नगर में मणिरथ राजा था। उसका लघु भ्राता युवराज युगबाहु था। उसकी पत्नी का नाम सती मदनरेखा था। इस मदनरेखा का पुत्र चन्द्रयशा है। जब चन्द्रयशा दस वर्ष का हुआ तब मदनरेखा दूसरी बार गर्भवती हुई।

राजा मणिरथ की दृष्टि एक बार मदनरेखा पर पड़ी। उसने उसे वश में करने के लिए आभूषण आदि अनेक उपहार भेजे परन्तु मदनरेखा उसकी ओर आकर्षित नहीं हुई।

एक बार युगबाहु एवं मदनरेखा लता-मण्डप में थे। मणिरथ को यह पता लगा। वह अचानक लता-मण्डप में आया। युगबाहु ने विनय भाव से ज्येष्ठ भ्राता को प्रणाम किया, परन्तु मणिरथ ने यह सुअवसर समझ कर नतमस्तक युगबाहु पर तलवार चला कर उसे धराशायी कर दिया। मदनरेखा रुदन करने लगी। रुदन सुन कर सन्तरी दौड़े आये, परन्तु उससे पूर्व मणिरथ भाग चुका था।

‘करेगा जैसा पायेगा और बायेगा वैसा काटेगा’ इस कहावत के अनुसार विषयान्ध मणिरथ नगर में लौटा, परन्तु उसी रात्रि में उसे विपैले साँप ने काट लिया, जिससे मर कर वह नरक में गया। प्रातःकाल में मंत्रीगण ने युगबाहु के पुत्र चन्द्रयशा को राज्य-सिंहासन पर बिठा दिया।

करुण क्रन्दन करती गर्भवती मदनरेखा ने अपने पति युगबाहु को तड़पते हुए देखा,

उस समय उनके नेत्र क्रोध से लाल थे। उनकी देह में क्रोध समाता नहीं था। बार-बार खड़े होकर 'कहाँ गया मणिरथ' कह कर वे दौड़ने का प्रयास करते थे। सती मदनरेखा ने मृत्यु-शय्या पर सोये पति को आश्वासन दिया और कहा, 'स्वामी! क्रोध मत करो। भाई, पिता, माता सब स्वार्थ के सगे हैं। आप अपना आत्म-कल्याण करो। स्वयं क्षमा याचना करो, देव-गुरु-धर्म का शरण स्वीकार करो। आप मणिरथ को शत्रु मत समझो। कर्मवश होश-भूले हुए उस पर दया लाओ।' यह कहती हुई मदनरेखा के समक्ष फटी आँखों से युगबाहु ने देखा। उसने उसकी गोद में सिर रखा और पलभर में देह का परित्याग कर दिया।

मदनरेखा कुछ समय तक रुदन करती रही परन्तु उसे तुरन्त विचार आया कि मणिरथ ने मेरे पति की हत्या मेरे रूप एवं मेरी देह के लिए की है। उसे मेरी देह के साथ खेलने का भूत सवार हुआ है। मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? मणिरथ के राज्य में मेरा कौन रक्षक है? उसने अपने आँसू पोंछे। पति की देह गोद में से नीचे रखी। सती ने पति के चरणों का स्पर्श किया और लता-मण्डप को छोड़ कर वह भागी। उसने न देखा मार्ग और न देखा कुमार्ग, उसने नहीं गिना भय बाध, भेड़िये अथवा साँप का। भागते-भागते प्रातःकाल हुआ और वह विश्राम लेने के लिए एक वृक्ष के नीचे बैठी। श्रम एवं भय के कारण उसकी देह काँप रही थी, चिन्ता एवं पति-शोक के कारण उसका मन उद्विग्न था। कुछ समय के पश्चात् उसके पेट में असह्य वेदना हुई और उसी वृक्ष के नीचे मदनरेखा ने पुत्र को जन्म दिया।

राजन्! राज्य के उत्तराधिकारी युवराज युगबाहु की अनाथ बनी पत्नी मदनरेखा इस नवजात शिशु को स्वच्छ करने के लिए समीपस्थ सरोवर पर गई। ज्योंही सरोवर में पाँव रखकर वह पुत्र को स्वच्छ कर रही थी कि जलहस्ति ने उसे उठा कर आकाश में फेंक दिया। बालक तट पर जा गिरा। सती को आकाश में से ही एक विद्याधर ने पकड़ लिया। सती को पकड़ते समय तो उसके हृदय में दया का अंकुर था, परन्तु जब उसने उसका चेहरा देखा तो उसके मन में विकार आ गया और वह बोला, 'देवी! मैं मणिप्रभ नामक विद्याधर हूँ। मैं जा तो रहा था चतुर्जानी मणिचूड़ चारण ऋषि की वन्दनार्थ, परन्तु अब मैं तुझे लेकर अपनी नगरी को लौटूँगा।' सती उसके मन के हाव-भाव समझ कर बोली, 'किस लिए? चलो चारण मुनि के पास चलें, फिर नगरी की ओर, इसमें क्या बाधा?' विद्याधर रुका। वह मदनरेखा को लेकर चारण मुनि के पास आया। मुनि ने विषय-विकारों की भयंकरता से सम्बन्धित देशना दी। मणिप्रभ विद्याधर प्रतिबोधित हुआ। वह मदनरेखा की ओर उन्मुख होकर बोला, 'सती, तू मेरी वहन है। मेरी ओर से तनिक भी भयभीत मत होना।'

'राजन्! उसका मोह भंग हुआ। उसने स्वदारा सन्तोष व्रत ग्रहण किया।

सती ने मुनि को पुत्र का वृत्तान्त पूछा।

मुनि बोले, 'सती! कुछ समय के पश्चात् उस वन में राजा पद्मरथ आया। उसने तंरे शिशु को देखा। उसे वह मिथिला ले गया और अपनी रानी पद्ममाला को सौंप दिया। उसने उसका नाम नमिराज रखा है।'

नमिराज बोला, 'आर्ये, तो क्या मैं सती मदनरेखा का पुत्र, चन्द्रयशा का लघु भ्राता हूँ। पद्मरथ राजा मेरे पालक पिता हैं और पद्ममाला पालक माता।'

'राजन्! हाँ, तू युगबाहु एवं मदनरेखा का पुत्र है और मैं स्वयं मदनरेखा हूँ। मुनि के पास से निकल कर मैंने दीक्षा अङ्गीकार की और सुव्रता नाम धारण करके मैं संयम का पालन कर रही हूँ। तुम दोनों भाइयों को युद्ध करते देख कर सच्ची बात कहने की मेरी इच्छा हुई। गुरुणी की आज्ञा प्राप्त करके मैं यहाँ आई और तुम्हें सच्ची-सच्ची बात कहो।' माध्वी ने दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए कहा।

नमिराज ने पुनः-पुनः साध्वी को अभिवादन किया और बोला, 'माता! तूम सचमुच उपकारी हो। आपने पिता तुल्य ज्येष्ठ भ्राता के प्रति अविवेक से मुझे बचाया है।'

माध्वी तुरन्त नाले के मार्ग में चन्द्रयशा के पास गई और बोली, 'नमिराज तेरा भाई है।' अपना वास्तविक परिचय सुनकर दोनों भाइयों ने आलिगन किया। चन्द्रयशा ने राज्य का परित्याग करके दीक्षा ग्रहण की और नमिराज को सुदर्शनपुर का राज्य सौंपा।

नमिराज को एक वार दाह-ज्वर उत्पन्न हुआ। दाह को शान्त करने के लिए रानियाँ, दासियाँ आदि सब चन्दन घिसने बैठ गयीं। शय्या में लेटते हुए नमिराज को रत्रियों के कंगनों की ध्वनि वेदना में वृद्धि करती प्रतीत हुई और वह बोला, 'यह ध्वनि बन्द करो।'

तनिक समय के पश्चात् चेतना आने पर राजा ने पुनः पूछा, 'क्या कार्य समाप्त हो गया? अब ध्वनि क्यों नहीं है?'

मंत्री ने कहा, 'नहीं, महाराज! चन्दन घिसा जा रहा है परन्तु रानियाँ एवं दासियाँ केवल एक कंगन ही हाथ रख कर घिस रही हैं, इस कारण ध्वनि नहीं है।'

रोग-प्रसन्न नमिराज पर इस शब्द ने जादू का प्रभाव किया। जहाँ दो हैं वहाँ शोर है। अकाल को सदा शान्ति है। संयोग ही पाप का कारण है। आत्मा सदा सुखी है पर दह का संयोग दुःख दायी है। संसार के समस्त दुःख संयोग का परिणाम है। राजा ने चित्त को संयोग-वियोग के तत्त्वज्ञान में परोया। दुःख विस्मृत हो गया और उसी रात्रि में स्वप्न आया जिसमें उसने मेरुपर्वत को देखा।

प्रातःकाल हुआ। स्वप्न का विचार करते-करते राजा को जातिस्मरण ज्ञान हुआ। उसको पूर्व भव का महा शुक्र देवलोक और मेरुपर्वत पर जिनेश्वर भगवान के किये गये स्नात्र महोत्सव याद आये।

संयोग-वियोग का विचार करते नमिराजर्षि ने राज्यसिंहासन छोड़ दिया और प्रत्येक बुद्ध बन कर संयम ग्रहण किया।

(५)

नमिराजर्षि की वीक्षा के समय इन्द्र की इच्छा उनके मन की परीक्षा करने की हुई। उन्होंने ब्राह्मण का रूप धारण करके नमिराजर्षि को मिथिला जलती हुई वता कर कहा, 'राजन्! मिथिला की ओर दृष्टि डालो, आपका अन्तःपुर जल रहा है, प्रजा कोलाहल कर रही है।'

राजा ने शान्तचित्त होकर उत्तर दिया, 'विप्र! मेरा कुछ नहीं जल रहा। मेरे पत्नी नहीं है, पुत्र नहीं है, परिवार नहीं है। मेरा कोई प्रिय नहीं है अथवा अप्रिय नहीं है। अतः मिथिला जलने पर भी मेरा कुछ नहीं जल रहा।'

नमिराजर्षि एवं विप्र के रूप में आये इन्द्र का यह वार्तालाप (संवाद) उत्तराध्ययन में नमिराजर्षि की संयोग त्याग रूप एकत्व भावना एवं वैराग्य की अखण्ड ज्योति प्रज्वलित करके उनके जीवन को प्रकाशमय कर रहा है।

सुच्या बहूण सद्धं वलयाणमसद्धं च एगस्स।

बुद्धो विदेहसामी सब्बेण परिक्खिओ अ नमी।।

चन्दन घिसते समय अनेक मंत्रियों के कड़गनों की ध्वनि सुनकर तथा एक कड़गन



नमिराजा : विप्र! मेरा कुछ नहीं जल रहा। मेरे पत्नी नहीं है, पुत्र नहीं है, परिवार नहीं है।

मेरा कोई प्रिय-अप्रिय नहीं है। अतः मिथिला जलने पर भी मेरा कुछ नहीं जल रहा.

की ध्वनि नहीं सुनने से बोध प्राप्त किये हुए तथा इन्द्र द्वारा परीक्षा किये हुए नमिराजा ने उत्कट वैराग्य के कारण संयम ग्रहण करके आत्म-कल्याण किया।

प्रब्रज्या अगीकार करने के पश्चात् नमिराज कर्मों का क्षय करके केवली बने और अन्त में सिद्धि गति प्राप्त करके सिद्ध बुद्ध होकर कृतकृत्य हुए।

(ऋषिमण्डलवृत्ति-उत्तराध्ययन से)

चारित्र चूडामणि श्रमणश्रेष्ठ मुनिश्री रविसागरजी म. की  
पुण्य शताब्दि बेला में, परम पूज्य प्रशमरसनिमग्न आचार्य देव  
श्रीमत् कैलाससागरसूरीधरजी म. सा. द्वारा संग्रहित  
श्री जैन कथासागर (सचित्र) भाग - १ समाप्त.

शिवमस्तु सर्व जगतः

❖ मानव-जन्म आमोद-प्रमोद के लिए नहीं मिला,  
खाने-पीने के लिए नहीं मिला, आत्मा का कल्याण  
करने के लिए मिला है। मनुष्य को उदर-पूर्ति के लिए  
नहीं, आत्मज्ञान के लिए अध्ययन करना चाहिये।  
❖ आप ईर्ष्यावश दूसरों को गिराने के लिए, उनकी  
अवनति के लिए, उन्हें सताने अथवा सन्तप्त करने  
के लिए कुछ न करें, क्योंकि अगले व्यक्ति का जीवन  
उसके कर्मों के अनुसार चल रहा होता है। जो होना  
होगा वही होगा। आप व्यर्थ क्यों पाप में पड़ते हैं?





श्री अरुणोदय फाउन्डेश

SHRIE ARUNODAYA FOUNDATI

ATMADABAD \* BOMBAY \* KOBA \* BANGALORE \* CHEN